॥ श्रीः ॥

श्रीमहर्षिपतञ्जलिप्रणीतं

योगदर्शनम् ।

मुद्रक व प्रकाशक:—
खेमराज श्रीकृष्णदास,
श्रीवेंकटेश्वर स्टीम् प्रेस, बम्बई ४.

॥ श्रीः ॥

श्रीमहर्षिपतञ्जलिप्रणीतं

योगदर्शनम् ।

बाँदामण्डलान्तर्गततेरहीत्याख्यग्रामवासिश्रीमत्प्यारे-
लालात्मजश्रीमत्प्रभुदयालुकृत-
दोहाभाषाभाष्यसहितम् ।

खेमराज श्रीकृष्णदास,
अध्यक्ष-"श्रीवेङ्कटेश्वर" स्टीम्-प्रेस,
बम्बई.

संवत् २००९, शके १८७४.

मुद्रक और प्रकाशक-

खेमराज श्रीकृष्णदास,

मालिक-"श्रीवेङ्कटेश्वर" स्टीम्-प्रेस, बंबई.

प्रस्तावना ।

सत्य ज्ञानरूप परमात्माको प्रणाम करनेके अनन्तर; जो मनुष्य संस्कृत नहीं जानते व शास्त्रपठनमें समर्थ नहीं हैं उनके विद्यालाभ और यह विदित होनेके लिये कि, किसी समयमें इस आर्यावर्त देशमें कैसे २ विद्वान् सज्जन महात्मा थे और अब यह आर्यावर्त कैसी दशामें प्राप्त है उन विद्वानोंके ग्रन्थोंको देखकर पूर्व कालमें इस देशमें विद्वान् व धर्मवान् पुरुषोंकी अधिकता जानकर अब भी सत्पुरुष सत्संग व विद्यामें रुचिको बढाकर सत्संग व विद्याके गुण व फलका उपदेश कर फिर इस देशको धर्म व विद्याकी वृद्धिसे सुशोभित करें; इस कारणसे पूर्वकालमें महर्षि पतञ्जलिऋषिने जिस योगविषयक दर्शनको सूत्रोंमें ऐसी अत्युत्तम रीतिसे वर्णन किया है कि, जिसके ज्ञान व योगसाधनसे श्रद्धालु साधकको परम सुख मोक्ष प्राप्त होनेके योग्य है व सम्पूर्ण दुःख व बन्ध छूट जाता है। उस उत्तम शास्त्रके सूत्रोंके भाष्यको यथामति सरल देशभाषामें वर्णन करता हूँ। इस ग्रन्थमें प्रथम मूल सूत्र संस्कृतमें और अर्थ भाषामें वर्णन किया गया है। यह ग्रंथ ज्ञाता धर्मवान् श्रद्धालु गुणग्राहकोंको अतिप्रिय व उत्तम विदित होगा. इससे प्रार्थना है कि, विद्वान् श्रद्धालु सज्जन अवश्य इस ग्रन्थको ग्रहण करें व जो कहीं भूल होय वह सज्जन महात्मा कृपा करके शुद्ध करलेवें और इसका " कापीराइट " श्रीवेंकटेश्वरयन्त्रालयाध्यक्ष " खेमराज श्रीकृष्णदासजी " को समर्पण किया गया है; अतएव और कोई महाशय इसके छापनेका इरादा न करें।

सज्जनोंका कृपापात्र—

प्रभुदयाल.

श्रीः ।

योगदर्शनविषयानुक्रमणिका ।

विभूतिपादः ३.

इति विषयानुक्रमणिका समाप्ता ।

ॐ परमात्मने नमः ।

महर्षिपतञ्जलिप्रणीतं

योगदर्शनम् ।

भाषाभाष्यसहितम् ।

समाधिपादः १.

अथ योगानुशासनम् ॥ १ ॥

अथ योगशिक्षा वा उपदेशको आरंभ करते हैं ॥ १ ॥

दो०-अथ मंगल औ योग कह, जानहु वृत्तिनिरोध।
अनुशासन ते जानिये, प्रतिपादन चितबोध ॥ १ ॥

योगकी शिक्षा वा योगके उपदेशको आरंभ करते हैं. यह सूत्रका अर्थ है. सो आरंभ करते हैं. यह सूत्रमें शेष है. भावसे क्रियाका आक्षेप किया जाता है. महात्मा पतंजलिजीने 'अथ' शब्दसे शास्त्रका आरंभ किया है. 'अथ' शब्द मंगलवाचक है. इससे प्रथम सूत्रके आदिमें शास्त्रके आरंभमें रक्खा है. योग अनुशासनमें प्रथम अधिकारी, विषय, सम्बन्ध, व फल यह अनुबन्धचतुष्टय जानना उचित है. आत्माके जाननेकी इच्छा करनेवालेको जिज्ञासु कहते हैं, जो जिज्ञासु है वही इस शास्त्रके विषयका अधिकारी है, योग इसका विषय है, योगधारणमें अधिकारीके चित्तकी जो प्रवृत्ति है वह सम्बन्ध है और मोक्ष फल है ॥ १ ॥

अब शास्त्रके विषयका लक्षण वर्णन करते हैं:-

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ २ ॥

चित्तकी वृत्तियोंका निरोध योग है ॥ २ ॥

दो०-चित्तकी वृत्तिनिरोधको, योग कहत मुनिराय ।
करत योग अभ्यासके, चितनिरोधको पाय ॥ २ ॥

चित्तवृत्तियोंका निरोध (रोकना) रूप योग दो प्रकारका है, संप्रज्ञात व असंप्रज्ञात, चित्तका वृत्तियोंके प्रवृत्त होने व निरोध होनेके अवस्था भेदसे चित्तकी पांच भूमि अर्थात् पांच स्थान हैं, क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र, व निरुद्ध । जो चित्त रजोगुणसे अति चंचल होता है वह क्षिप्त, जिस चित्तमें तमोगुणसे निद्रा व मूढता होती है वह मूढ, जो अत्यन्त चलायमान चित्त है व किसी समयमें स्थिर भी हो जाता है वह विक्षिप्त कहा जाता है, क्षिप्त व मूढ अवस्थामें योगकी गंधभी नहीं होती. विक्षिप्तमें कहीं कहीं योग होता है, एकाग्रमें अर्थात् सत्त्वगुण प्रधान जो एक विषयमें स्थित चित्त है उसमें रजोगुण तमोगुण वृत्तियोंके निरोध व सात्त्विकवृत्ति विशेषरूप संप्रज्ञातयोग होता है, वेद-स्मृतिके प्रमाणसे संप्रज्ञातयोगमें ज्ञाताको जो परोक्ष (अदृष्ट) अर्थ है वह साक्षात् होता है. साक्षात् होनेसे क्लेशका नाश होता है. अविद्या आदि क्लेश (जिनका वर्णन आगे किया जायगा) नाश होनेसे कर्म का नाश होता है, तब सात्त्विक वृत्तियाँ भी निरोध होनेसे व संस्कार मात्र शेष रहनेसे सम्पूर्ण चित्तकी वृत्तियोंका निरोध होता है अर्थात् सब चित्तकी वृत्तियां रुक जाती हैं. निरोधशब्दका अर्थ रुकजाना है, निरुद्ध चित्तसे असंप्रज्ञातयोग होता है, दोनों प्रकारके योगका साधारण लक्षण सूत्रमें यह कहा है कि, चित्तकी वृत्तियोंका निरोध योग है. (शंका) एक चित्तकी अनेक भूमि किस हेतुसे कही हैं ? (उत्तर) चित्तके त्रिगुणात्मक होनेसे चित्त ज्ञान सुख आदि शीलता वृत्ति गुण आदिमत्ता आलस्य दैन्य आदिमत्तासे सत्त्व, रज, तम गुण होता है, सत्त्वगुणसे कुछ कम व रज, तम जब बराबर होते हैं तब सत्त्वगु-णसे चित्त

ध्यानमें प्रवृत्त हुआ जो तमोगुणसे ध्यानको छोडकर रजोगुणसे अनेक कामना करते विषय प्रिय होता है वह विक्षिप्त है, जब तमोगुणप्रधान मूढ होता है तब अकल्याण, अधर्म अज्ञान अनैश्वर्यको प्राप्त होता है. अज्ञानशब्दसे भ्रम, निद्रा अर्थका भी ग्रहण यहां मूढ होनेके लक्षणमें जानना चाहिये. रजोगुण प्रधान क्षिप्त होता है, इस प्रकारके तीन गुण होनेके कारणसे त्रिगुणात्मक चित्त क्षिप्त मूढ सबके साधारण होते हैं. विक्षिप्त प्रथम योगियोंका चित्त होता है. योगी चार प्रकारके होते हैं. प्रथमकल्पिक, मधुभूमिक, प्रज्ञाज्योति, अतिक्रांति भावनीय. तिनके लक्षण ये हैं—प्रथम सत्त्वगुण प्रधान रजोगुण तमोगुण युक्त होता है. द्वितीय एकाग्र संप्रज्ञात योगसे उत्पन्न सिद्धिसे योगीका चित्त धर्म ज्ञान वैराग्य ऐश्वर्यको प्राप्त होता है, तृतीय जब रजोगुण मलसे स्वच्छ शुद्ध सत्त्वचित्त होता है तब विवेकख्यातिद्वारा पुरुषमात्रका ध्यान पुरुष धर्मबुद्धिसे करता है । जब ध्यान करनेवाला ध्यानमें दृढ होकर अनेक प्रकारके विषय देखनेपर भी अशुद्ध नाशवान् निश्चय करके सत्त्वगुण विचारयुक्त विवेकख्यातिमेंसे भी चित्त शक्तिको रोकता वा निरोध करता है, संस्कारमात्र रहजाता है, वह चतुर्थ अतिक्रांतिभावनीय योगकी अवस्था है. सोई असंप्रज्ञातयोग वा समाधि है. इसमें केवल शुद्ध चेतनरूपमें मग्न होकर अन्य विषयोंको नहीं जानता, सम्पूर्ण विषय सुख दुःख मोह शून्य होता है ॥ २ ॥

जो यह शंका हो कि, बुद्धिवृत्ति पुरुषका स्वभाव है, वृत्ति निरोध होनेसे स्वभाव भिन्न कैसे पुरुषकी स्थिति हो सकती है ? इसका समाधान अब सूत्रमें वर्णन करते हैं:—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ ३ ॥

तब द्रष्टाका स्वरूपमें ही स्थान है ॥ ३ ॥

दो०-तब द्रष्टा निज रूपमें, कर स्थित सुख मान ।
पुनि न भ्रमत चित अनत कहुँ, निजस्वरूप पहिचान ॥ ३ ॥

अभिप्राय यह है कि, जब चित्तकी शांत घोर :मूढ सब वृत्तियोंका निरोध होजाता है तब द्रष्टा जो देखनेवाला चिदात्मा है उसकी स्वाभाविकरूपमें स्थिति होती है. बुद्धिवृत्तियां पुरुषका स्वभाव नहीं है, उसी प्रकारसे सब वृत्तियोंके निरोध होनेमें पुरुषका शुद्ध स्वाभाविक रूप प्राप्त होता है, जैसे जपाकुसुम (गोडहरका फूल) के दूर होजाने पर स्फटिकका शुद्धरूप होजाता है अथवा सब वृत्तियोंके निरोध होजाने-पर द्रष्टा जो साक्षी ज्ञानस्वरूप सर्वज्ञ परमेश्वर है उसके स्वरूपमात्रमें समाधिमें योगीकी स्थिति होती है ॥ ३ ॥

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ ४ ॥

वृत्तिसारूप्य इतरमें ॥ ४ ॥

दो०-वृत्तिनिरोध न होत जब, द्रष्टा वृत्तिस्वरूप ।
इतर सब ते जानिये, पृथक् रहत निज रूप ॥ ४ ॥

इतरमें (अन्यमें) अर्थात् निरोधसे भिन्न जो व्युत्थान (वृत्तियोंके न रुकनेकी अवस्था) आदि वृत्तियां हैं उन्हींके रूपभावमें पुरुष अपनेको मानता है कि ' शांत हूं, मूढ हूं, दुःखी हूं. ' व्युत्थान अवस्थानमें ऐसा मानना केवल भ्रम है, इससे स्वभावसे आत्मा पतित नहीं होता, जैसा जपाकुसुमके समीप होनेके समयमें स्फटिकमें अरुणता (ललाई) दीख पडती है, परंतु उसकी स्वाभाविक शुक्लता दूर नहीं होजाती, निरोधमें मुक्ति व व्युत्थानमें बंध है, यह पूर्व व पर दोनों सूत्रोंका आशय है ॥ ४ ॥

अब निरोध करनेके योग्य वृत्तियां कितने प्रकारकी है ? यह वर्णन करते हैं:-

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टा अक्लिष्टाः ॥ ५ ॥

वृत्तियाँ क्लिष्ट अक्लिष्ट रूप पांच प्रकारकी हैं ॥ ५ ॥

दो०--वृत्ती पांच प्रकारकी, क्लिष्टाक्लिष्ट बखान ।
तिहि निरोधते होत है, योगशक्ति बलवान ॥ ५ ॥

जो वृत्तियां राग द्वेष आदि क्लेशका कारण होकर बंधफल करनेवाली होती हैं अर्थात् सब जीवोंको प्रमाण आदिक वृत्तियोंसे जाने हुए अर्थोंमें राग द्वेष मोह द्वारा कर्म कराके सुख दुःखमें बांधती हैं वे क्लिष्ट हैं और जो मोक्षफल देनेवाली हैं वे वृत्तियां अक्लिष्ट कही जाती हैं । अक्लिष्ट वृत्तियां वैराग्य अभ्याससे क्लिष्ट वृत्तियोंके प्रवाहमें बहे जाते हुए प्राणियोंको अपनेसे उत्पन्न अक्लिष्ट संस्कारोंको वारंवार अभ्याससे बढाकर क्लिष्ट संस्कारको रोकती हैं, क्लिष्ट वृत्तियों प्रवाहका निरोध (रोक) होनेपर वैराग्यसे आप भी निरुद्ध हो जाती हैं अर्थात् शांत होजाती हैं, तब संस्कारमात्र रहे हुए चित्तकी मुक्ति होती है ॥५॥

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥ ६ ॥

प्रमाण विपर्यय विकल्प निद्रा स्मृति ये वृत्तियां हैं ॥ ६ ॥

दो०--प्रमाण विपर्यय विकल्प, और निद्रा स्मृति जान ।
पांच भेद चितवृत्तिकर, मुनिवर करत बखान ॥ ६ ॥

अर्थात् ये चित्तकी पाँच वृत्तियां हैं ॥ ६ ॥

(तत्र) प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥७॥

प्रत्यक्ष अनुमान आगम ये प्रमाण हैं ॥ ७ ॥

दो०--प्रत्यक्ष अनुमान और, आगम तीन प्रमाण ।
इनते जान्यो जात है, सत्यासत्य विधान ॥ ७ ॥

जिस वृत्तिसे प्रमा (निश्चयात्मक बोध) की प्राप्ति होती है, अर्थात जिससे 'यह वस्तु यथार्थ इस प्रकारसे है' यह ज्ञान

होता है उसकी प्रमाण संज्ञा है; उस प्रमाणके तीन भेद हैं, प्रथम प्रत्यक्ष, इन्द्रिय व अर्थके सन्निकर्ष (व्यवधानरहित संयोग) से उत्पन्न व व्यभिचार दोषरहित ज्ञानकी धारण करनेवाली चित्तकी वृत्ति 'प्रत्यक्ष' प्रमाण है, प्रत्यक्षद्वारा अप्रत्यक्षका जिसका प्रत्यक्षके साथ सम्बन्धसे जानना अनुमान वृत्ति है । यथा—धूम देखकर प्रत्यक्ष धूम द्वारा अप्रत्यक्ष अग्निकी व्याप्ति सम्बन्धसे जानना कि, जहां अग्नि होती है वहीं ऐसा धूम जैसा प्रत्यक्ष (होरहा है) होता है, यथार्थ अनुमान यथार्थ व्याप्तिके ज्ञानसे होता है; साध्य साधनका किसी धर्म विशेषके साथ सम्बन्ध रहना व्याप्ति है, ऐसे सम्बन्ध होनेके ज्ञानको व्याप्तिज्ञान कहते हैं. यथा धूम व अग्निके सम्बन्ध होनेके ज्ञानसे विशेषरूपसे धूमको देखकर यह निश्चय करना कि, जहां ऐसा धूम होता है विना अग्निके नहीं होता, इस व्याप्तिज्ञानसे धूमके प्रत्यक्ष होनेसे अप्रत्यक्ष अग्निका जानना अनुमान है, जो यह संशय हो कि, दूरसे पर्वत धूलि कुहिर धूम सदृश दीख पडते हैं उनमें अग्निका अनुमान होना चाहिये तौ इसका उत्तर यह है कि, ऐसा नहीं होसकता है, क्योंकि अनुमानका मूल प्रत्यक्ष है, पूर्व प्रत्यक्षद्वारा अनुमान होता है, प्रत्यक्ष जो विकार दोषसंयुक्त हुआ तो अनुमानभी मिथ्या हो जाता है, इसीसे प्रत्यक्षके लक्षणमें कहा है कि, इन्द्रिय व अर्थके सन्निकर्षसे उत्पन्न दोष भ्रमरहितज्ञान प्रत्यक्ष है. जो दूर होनेके हेतुसे अथवा इन्द्रियमें विकार दोष होने आदि अन्यकारणसे भ्रामिक ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष नहीं है, इससे उक्त लक्षणमें दोषापत्ति नहीं है, असत् प्रत्यक्षसे व्याप्ति स्थापन मिथ्या है व तन्मूलक अर्थात् उसके द्वारा जो अनुमान होता है वह भी मिथ्या है वा होता है।आप्त नाम भ्रमरहित साक्षात् पदार्थके ज्ञाता सत्यवादीका है जो अपने दृष्ट वा अनुमित अर्थका उपदेश करै उस आप्तके कहेहुए अर्थको शब्दोंसे जानना व उसको प्रमाण मानना

'आगम' प्रमाण है. यथा आप्त ईश्वर प्रणीत मानकर वेदको आगम माना जाता है ॥ ७ ॥

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठितम् ॥ ८ ॥

मिथ्याज्ञान जो पदार्थ स्वरूपसे विरुद्ध प्रतिष्ठित अर्थात् बुद्धिमें स्थित हो वह विपर्यय है ॥ ८ ॥

दो०–जैसो जौन पदार्थ है, तस नहिं भासत सोई ।
मिथ्या ज्ञान प्रभावते, ज्ञान विपर्यय होई ॥ ८ ॥

जो यह तर्क किया जाय कि यथा विपर्यय अनेक विषयमें प्रतिष्ठाशून्य है तथा विकल्प भी है. इस सन्देह अतिव्याप्ति (लक्ष्यसे भिन्न वस्तुमें लक्षणकी प्राप्ति) के निवृत्त होनेके अर्थ मिथ्याशब्द सूत्रमें कहा है तात्पर्य यह है कि, जब पदार्थके होनेमें असत्यता नहीं, परंतु उसके ज्ञानमें दोष हैं अर्थात् जैसा सत्यरूप पदार्थ है वैसा ज्ञान न होकर उसके विरुद्ध होता है. यथा–आत्मा नित्य चेतनरूप है उसको भ्रमसे अनित्य जड मानना. रस्सीको अन्धकारमें सर्प जानना । आत्मा व रस्सीका होना असत्य नहीं है, ज्ञान होनेमें मिथ्यात्व है, अनित्य होना व सर्पका होना यह मिथ्याज्ञान विपर्यय है. विकल्पमें जिस पदार्थका भ्रमसे स्वीकार (अंगीकार) होता है वह पदार्थही मिथ्या होता है, न केवल ज्ञान ॥ ८ ॥

यही सूत्रमें वर्णन करते हैं:–

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥ ९ ॥

शब्दज्ञान अनुसार वस्तुका शून्य विकल्प ॥ ९ ॥

दो०–शब्द श्रवणते होत है, वस्तुशून्यको ज्ञान ।
मुनिवर ताहि विकल्प कह, लेउ सत्य जिय मान ॥ ९ ॥

मनुष्यके सींग सुनकर मानलेना विकल्प है. यद्यपि मनुष्य सत्य

---

१ अतद्रूपप्रतिष्ठम् इति पाठान्तरम् ।

है, सींग सत्य है; परन्तु मनुष्यका सींग सत्य नहीं है, ऐसा जानकर भी किसीके कथन सेवा लेखसे प्रमाण विरुद्ध मानना विकल्प है. तथा चेतनरूप पुरुष है यह जानकर विना प्रमाण परीक्षा पुरुषमें चैतन्य भेद मानना विकल्प है इत्यादि ॥ ९ ॥

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥ १० ॥

अभावज्ञानको अवलंबन करनेवाली वृत्ति निद्रा है॥ १०॥

दो०—अखिल वस्तुको ज्ञान जब, रहत नहीं चितमाहिं ।
आश्रयज्ञान अभावके, निद्रावृत्ति कहाहिं ॥ १० ॥

अभावमें जो हेतु है वह अभाव हेतु है. जाग्रत् स्वप्न वृत्तियोंके अभावका हेतु तमोगुण होता है; इससे अभावप्रत्यय वा अभावहेतुसें अभिप्राय तमोगुणसे है, क्योंकि प्रथम तमोगुणके आधिक्यसे पुरुष जब स्वप्नको प्राप्त होता है, तब जाग्रत्की वृत्तियोंका अभाव होता है; उससेभी अधिक तमोगुण आश्रित हो स्वप्नवृत्तिके अभाव होनेपर सुषुप्ति अवस्थाको प्राप्त होता है, ऐसे अभावहेतु तमोगुणको अवलंबन करनेवाली वृत्ति निद्रा है. अब शंका यह है कि, वृत्तिविषय सम्बन्धमें विपर्यय आदिमें विना वृत्तिशब्दके वृत्तिके कहनेका बोध होता है. वैसे सम्बन्धहीसे निद्राकी वृत्ति होनेका ज्ञान साधारण था वृत्तिशब्द रखनेका क्या प्रयोजन था ? ज्ञानका अभाव निद्रा है यह कहना यथार्थ था । इसका उत्तर यह है कि, ज्ञानका अभाव निद्रा माननेमें दोषकी प्राप्ति है इससे चित्तके अभाव वृत्तिमात्र जनाने व ज्ञान अभाव माननेवालोंके मत खण्डन करनेके अर्थ वृत्तिपद रक्खा है. तात्पर्य यह है कि, ज्ञानके अभावका हेतु अज्ञान अवलंबन विषय निद्रा नहीं है. केवल चित्तवृत्तिके अभावके हेतु तमोगुणको अवलंबन वा धारण करनेवाली निद्रा है, क्योंकि जो ज्ञानके अभावको निद्रा

माने तो सत्त्वगुण वृत्तिको स्वप्नमें प्राप्त हो उठकर ' बहुत सुखसे मैं सोया ' अथवा रज तम वृत्तिसे कुस्वप्नको प्राप्त सोनेसें उठकर ' बहुत दुःख सोनेमें रहा ' अथवा अत्यन्त तमके आधिक्यसे घोर निद्रासें उठकर यह कहता है कि ' ऐसा सोया कि कुछ स्मरण नहीं रहा ' ऐसा ज्ञान न होना चाहिये; क्योंकि यह बुद्धि वा ज्ञानका धर्म है॥१०॥

अनुभूतविषयाऽसंप्रमोषः स्मृतिः ॥ ११ ॥

अनुभूत विषयमें जो अस्तेय है वह स्मृति है ॥ ११ ॥

दो०—पूरवमें जो जो विषय, करत रहे अनुभूत ।
तिनको पुनि चितमें उदय, स्मृति कहत सुपूत ॥ ११ ॥

जो पूर्वमें अर्थात् भूतकालमें होगया है वह ज्ञानमें प्राप्त हुआ है उस चित्तवृत्तिस्थ बोध संस्कारसे उत्पन्न अनुभव अर्थात् पूर्वसे जो ज्ञानविषय चित्तमें प्राप्त है उसके फिर उदय करनेवाली वृत्तिको स्मृति कहते हैं. 'असंप्रमोष' पद रखनेका क्या प्रयोजन था ? अनुभूत विषयका ग्रहण स्मृति है यही करनेसे प्रयोजन सिद्ध होता है. उत्तर यह है कि, संप्रमोष नाम स्तेय अर्थात् हरविषय वा पदार्थको अपना ऐसा ग्रहण करनेको कहते हैं, जैसे कोई अनुभूत विषयको जो अपने स्मरणमें नहीं है उसको यथा पुत्रके स्मृतिमूल अनुभव विषयको पिताका व किसी अन्यके स्मृतिविषयका अन्यका अपना ऐसा निश्चय करलेना संप्रमोष है. संप्रमोष जिसमें न हो वह असंप्रमोष है. अभिप्राय यह है कि, अपने चित्तमें प्राप्त बोधके संस्कारसे जो अनुभव विषयकी वृत्ति है वह स्मृति है. पर स्मृतिसे अंगीकार करलेना स्मृति नहीं है. ' असंप्रमोष ' पदके न रखनेसे परस्मृतिमूलक अनुभव विषयके ग्रहणका भी संभ्रम रहता है, इससे ' असंप्रमोष ' पद रक्खा है. जो यह शंका हो कि जो अनुभूत नहीं है वह

भी स्वप्नमें यथा अपने शरीरमें हाथीके शरीरका स्मरण व बोध होता है यह भी स्मृति है तो यह जानना चाहिये कि, यह स्मृति नहीं है यह विपर्यय है जिसका लक्षण पूर्वही वर्णन किया गया है ॥ ११ ॥

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ १२ ॥

अभ्यास व वैराग्यसे तिन वृत्तियोंका निरोध होता है ॥१२॥

दो०-अभ्यास औ वैराग्यते, वृत्ती होत निरोध।
वृत्तीके अवरोधते, होत आत्मकर बोध ॥ १२ ॥

इन सब वृत्तियोंका-कि, जिनका ऊपर वर्णन हुआ है, अभ्यास व वैराग्यसे निरोध होता है ॥ १२ ॥

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥ १३ ॥

तिस स्थितिमें यत्न करना अभ्यास है ॥ १३ ॥

दो०--निरोधादि थितके निमित, यत्न; कह्यो अभ्यास ।
अनुष्ठान कर यत्नको, आतमा करत प्रकास ॥ १३ ॥

तिसमें वृत्तियोंके निरोधमें अर्थात् वृत्तियोंके निरोधके उपायमें रजोगुण-तमोगुण-शून्य चित्तकी एकाग्रतामें स्थिति होना अर्थात् ठहरना तिस स्थितिमें साधन यम नियम आदिमें प्रयत्न करना अभ्यास है ॥ १३ ॥

जो यह संशय हो कि, अनिश्चित कालसे प्रबल राजस, तामस वृति विरुद्ध संस्कार करके कुंठित अभ्याससे स्थिति नहीं हो सकती इसके समाधानके अर्थ आगे सूत्रमें दृढ होनेका उपाय जिससे स्थिति हो वर्णन करते हैं-

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारसेवितो दृढभूमिः ॥१४॥

सो तो दीर्घकाल निरंतर सत्कारसे सेवित दृढभूमि होताहै १४

दो०--नैरंतर सत्कारयुत, सेवित दीरघ काल ।
दृढभूमी तब जानिये, होय अभ्यास विशाल ॥ १४ ॥

इस उपरोक्त शंकानिवारणके अर्थ कि, राजस तामस वृत्ति व्युत्थान संस्कारसे अभ्यास कैसे हो सकता है ? सूत्रमें 'तु' शब्द कहा है कि, नहीं अभ्यास तो दृढ होता है किस प्रकारसे दृढ होता है? दीर्घकालतक निरन्तर तप ब्रह्मचर्य विद्या श्रद्धारूप सत्कारसे सेवित होनेसे दृढ होकर स्थितिके योग्य होता है. व्युत्थान संस्कार फिर उसको बाधा नहीं करते. 'सत्कार' तप ब्रह्मचर्य विद्या श्रद्धाको कहते हैं. इसमें यह श्रुति प्रमाण है. सत्कार विषयमें कहा है -" अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययाऽऽत्मानमन्विष्य " इति । अर्थ— उपरोक्त तप करके ब्रह्मचर्य करके श्रद्धा करके विद्या करके अर्थात् तप ब्रह्मचर्य श्रद्धा व विद्याद्वारा आत्माको खोज कर ॥ १४ ॥

**दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकार-
संज्ञा वैराग्यम् ॥ १५ ॥**

दृष्ट व आनुश्रविक (वैदिक पौराणिक) विषयके तृष्णा रहितको वशीकार संज्ञा वैराग्य होता है ॥ १५ ॥

दोहा–जोन जोन देखे सुने, इहामुत्रके भोग ।
तिनकी तृष्णाते रहित, वशीकार सम्रयोग ॥ १५ ॥

चार प्रकारका वैराग्य क्रमसे होता है, यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय व वशीकार संज्ञा अर्थात् चार प्रकारसे वैराग्य चित्तमें प्राप्त होते हैं. प्रथम जिस जिस भोगकी चित्तमें प्रीति है उनमें इन्द्रिय प्रवृत्त करनेवालेका जो भोगसे संतोष धारण करके त्याग करनेका यत्न करना है उसको यतमान वैराग्य कहते हैं । फिर कुछसे संतुष्ट होकर त्याग करनेको व्यतिरेकसंज्ञा वैराग्य कहते हैं, फिर सब संसारी भोगमें इन्द्रिय प्रवृत्त करनेसे मनसे उदासीन हो त्यागनेको एकेन्द्रिय

वैराग्य कहते हैं. इसके पश्चात् जहांतक स्त्री अन्न पान आदि सुख जो देखे जाते हैं व गुरुवाक्यसे सुने व वेदमें वर्णित स्वर्ग आदि दिव्य व अदिव्य सुख विषयमें नाश परिताप ईर्ष्या दोषोंके अभ्याससे साक्षात करके उनमें उदासीनता धारण करके मनको वशकर तृष्णात्याग करनेको वशीकारसंज्ञा वैराग्य कहते हैं ॥ १५ ॥

अपरवैराग्यको कहकर अब परवैराग्यको वर्णन करते हैंः—

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥ १६ ॥

पुरुषख्यातिसे उससे पर अर्थात् वशीकार संज्ञा वैराग्यसे अधिक गुण वैतृष्ण्य नामक परवैराग्य होता है ॥ १६ ॥

दो०—निजरूपके ज्ञानते, गुणतृष्णा मिट जात ।
प्रकटत परवैराग्य तब, पुरुष भिन्न दिखरात ॥ १६ ॥

सूत्रका अभिप्राय यह है कि, जिन योगके अंगोंका आगे वर्णन किया जायगा उन योगके अंगोंके अनुष्ठानसे अतिशुद्धतारहित चित्तके विषयोंमें दोष देखनेसे वशीकार संज्ञक (नामक) वैराग्यके होनेमें गुरु व शास्त्रसे उपदेश कीगई जो पुरुषख्याति धर्ममेघ[1] नामक है उसके अभ्यास ध्यानरूपसे रजोगुण तमोगुण मलरहित चित्त सत्त्वगुणमात्र शेष अति प्रसन्न होता है, यह अतिशुद्धचित्त होनेका धर्म है प्रसन्नता धर्ममेघ पुरुषकी उत्तर मर्यादा है. उसके फल वशीकार संज्ञासे पर (उत्कृष्ट) जो रजोगुण तमोगुण सत्त्वगुणोंके विषयोंकी तृष्णासे रहित होता है उसको गुण वैतृष्ण्य संज्ञक परवैराग्य कहते हैं. इसीको मोक्षका हेतु व इसके उदय होनेसे सम्पूर्ण क्लेश व कर्माशयसे रहित पुरुष कृतार्थ होता है, यह योगीजन

---

१ पुरुषधर्मका ज्ञान जिसमें हो उसकी धर्ममेघसंज्ञा है, संस्कृतमें इसका अर्थ इस प्रकारसे जानना चाहिये—" कैवल्यफलरूपमशुक्लमकृष्णं धर्मविशेषं मेहति सिञ्चतीति धर्ममेघः ।"

कहते हैं. इससे यह अभिप्राय नहीं है कि अपने ज्ञान आनन्द स्वाभाविक गुणसे वैराग्य होना कहा है, किन्तु रजोगुण तमोगुण दूर होनेके पश्चात् सत्वगुण रहजाता है, उससे जो उत्पन्न प्रसन्नता है उससेभी वैराग्य होनेसे (त्रिगुणमात्र सबसे वैराग्य होनेसे) व केवल आत्मानन्द वा ब्रह्मानन्दमें मग्न होनेसे तात्पर्य है, क्योंकि त्रिगुण विषय जन्य सुख सब नाशवान् अनित्य हैं इससे उनमें विराग होना ही उचित है ॥ १६ ॥

अब वैराग्य अभ्याससे साध्य संप्रज्ञात व असंप्रज्ञात योगको क्रमसे वर्णन करते हैंः-

वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात्संप्रज्ञातः॥ १७॥

वितर्क विचार आनन्द अस्मितारूप अनुगमसे संप्रज्ञात योग होता है ॥ १७ ॥

दो०-वितर्क विचार आनन्द औ, अस्मितादि चहुँ रूप ।
संप्रज्ञात विरागके, जानहु चार स्वरूप ॥ १७ ॥

वितर्क, विचार, आनन्द व अस्मितारूप प्राप्त भेदसे चार प्रकारका संप्रज्ञात योग होता है. जैसे निशाना लगानेवाला प्रथम बडे निशानेमें बाण चलानेका अभ्यास करता है. पश्चात् उससे छोटेमें इस प्रकारसे जहाँतक सूक्ष्ममें उसको अभीष्ट है वहाँतक क्रमसे अभ्यास करता है. इसी प्रकारसे योगी प्रथम अतिसूक्ष्ममें चित्त स्थिर करनेको समर्थ न होकर स्थूलका ध्यान करके साक्षात् करता है. जैसे सूर्य आदि किसी साकार पदार्थका ध्यान करके साक्षात् करना इसको ' वितर्क ' योग कहते हैं. इसी वितर्कमें स्थूलके ध्यानके अभिप्रायसे बहुत आचार्य राम कृष्ण विष्णु आदिके रूपके ध्यानको ग्रहण करते हैं यह ध्यान योगीको मुख्य अभीष्ट नहीं है, परन्तु जैसे प्रथम घट वा अन्य कोई बडे पदार्थमें निशाना लगाना सीखनेके अर्थ उपयोगी (सहायक) है इसी प्रकारके स्थूल ध्यान अभीष्ट ध्यानके उपयोगी हैं. इसके

पश्चात् अर्थात् स्थूलके साक्षात् करनेके पश्चात् स्थूलके कारणरूप सूक्ष्म पंचतन्मात्रा मात्रा रूप रस गंधस्पर्श शब्द इनको ध्यान करके साक्षात् करनेको 'विचार' योग कहते हैं. यथा—सूर्यके आकारको छोडकर तेजमात्र रूपका ध्यान करना इत्यादि. प्रथम जो वितर्क है वह स्थूल सूक्ष्म इन्द्रिय अस्मिता चतुर्विषयक है अर्थात् चार विषयरूप हैं. व विचार तीन सूक्ष्म इन्द्रिय अस्मिता विषयक है. तिस पीछे स्थूल इन्द्रियोंका जो ज्ञानके प्रकाशके हेतु होनेसे सत्त्वरूप हैं ध्यान करके साक्षात् करना 'आनन्द' योग है यह इन्द्रिय अस्मितादिविषयक है, इन्द्रियोंके साक्षात् करनेके पश्चात् इन्द्रियोंकी कारणबुद्धि जो ग्रहण करनेवाले पुरुषके साथ एक भावको प्राप्त है वह 'अस्मिता' है ध्यानसे उसके साक्षात् करनेको अस्मिता योग कहते हैं. इस प्रकारसे सवितर्क सविचार सानन्द व सास्मिता ये चार भेद संप्रज्ञातयोगके हैं. भोग विषयमें इंद्रिय सवितर्क त्रिगुणात्मक चित्त सविचार अहंकार सानन्द महत्तत्त्व सास्मिता कहे गये हैं. 'मैं हूं' ऐसा विषयग्राहक अन्तःकरण अहंकार है. सत्तामात्र महत्तत्त्वमें लीन सत्तामात्र अवभासक अस्मिता है. यह दोनोंका भेद है, इनका धारण करनेवाला पुरुष है ॥ १७ ॥

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥१८॥

विराम प्रत्ययका अभ्यास है पूर्वमें जिसके ऐसा संस्कार शेष अन्य अर्थात् असंप्रज्ञात योग है ॥ १८ ॥

दो०—पूर्व कथित जो भावना, तिनके होत अभाव ।
संस्कारके शेषते, असम्प्रज्ञात कहाव ॥ १८ ॥

विराम जो वृत्तियोंका अभाव है उसका प्रत्यय (कारण) वैराग्य है इसमें विराम प्रत्यय वैराग्यकी संज्ञा है. वैराग्यका

अभ्यास है पूर्व उपायमें जिसके ऐसा संस्कार शेष जो असंप्रज्ञातयोग है जिसमें पर वैराग्य संप्रज्ञातके संस्कारोंको भी मिटा करके अपने संस्कारोंको बाकी रखता है वही निर्बीज समाधि है, क्योंकि यह वैराग्य संस्कारमात्र शेष (बाकी) जो असंप्रज्ञात है इसमें सब कर्म-बीजका नाश हो जाता है. यह असंप्रज्ञात योग दो प्रकारका होता है, भवप्रत्यय व उपायप्रत्यय जैसा आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं ॥ १८ ॥

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥ १९ ॥

विदेहप्रकृतियोंको भवप्रत्यय होता है ॥ १९ ॥

सो०--प्रकृतिमाहिं जे लीन, सो विदेह पहिचानिये ।
जन्म मरण आधीन, भवप्रत्ययके वश भये ॥ १९ ॥

जो योगी विदेह देहसेरहित असंप्रज्ञात योगको प्राप्त प्रकृतिमें चित्तको लीन करते हैं अर्थात् प्रकृति महत्तत्त्व अहंकार पंचतन्मात्रा-ओंमें प्रकृत्तिहीके आत्मा होनेकी भावना करके लीन हुए हैं, उन विदेह प्रकृतिलयोंको भवप्रत्यय असंप्रज्ञात योग होता है. अविद्यामें सम्पूर्ण जीव भव (उत्पन्न) होते हैं इससे अविद्याका नाम भव है, भव (अविद्या) है प्रत्यय (हेतु) जिसका वह भवप्रत्यय असंप्रज्ञात है. इसमें चित्त लीन होनेमें भी संस्कार शेष रहता है. चित्त संस्कार होनेसे फिर चित्तसंस्कारके उठनेमें सोये हुए चित्तके तुल्य संसारमें पतित होता है. यह मुमुक्षुओंको त्याग करनेके योग्य है १९

अब जो ग्रहणके योग्य है वह वर्णन करते हैं:-

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥ २० ॥

श्रद्धा वीर्य स्मृति समाधि प्रज्ञा पूर्वक इतरोंको
अर्थात मुमुक्षुओंको ॥ २० ॥

दो०--तज विदेह औ प्रकृतिलय, पृथक योगिजन जोई ।
ताका श्रद्धा वीर्य और, स्मृतिसमाधिमें होई ॥ २० ॥

प्रथम सात्त्विकी श्रद्धा होती है, श्रद्धासे वीर्य अर्थात् प्रयत्न होता है, प्रयत्नसे यम नियम आदि एक एकके पर साधन करते स्मृति होती है अर्थात् ध्यान होता है स्मृतिशब्द यहाँ ध्यानवाचक है, ध्यानसे समाधि होती है तिससे प्रज्ञाके अभ्याससे संप्रज्ञातयोग होता है, तिससे पर वैराग्यसे मुमुक्षुओंको असंप्रज्ञातयोग होता है, इस प्रकार श्रद्धासे लेकर प्रज्ञापर्यंत जो उपाय हैं तिनपूर्वक उपाय प्रत्यय होता है, यह उपाय प्राणियोंको पूर्वसंस्कारके बलसे मृदु, मध्य, अधिमात्र तीन प्रकारसे होता है, इसी प्रकारके योगी तीन प्रकारके होते हैं, मृदु उपाय,मध्य उपाय व अधिमात्र उपाय. तिनमें मृदु उपाय त्रिविध होता है, मृदुसंवेग मध्यसंवेग व तीव्रसंवेग.इसी प्रकारसे मध्य उपाय अधिमात्र उपायमें भी जानना चाहिये, इस प्रकारसे नव प्रकारके योगी होते हैं, तिनको चिर व चिरतर और क्षिप्र व क्षिप्रतर सिद्धियां प्राप्त होती हैं अर्थात् बहुत काल व और भी बहुत वा अधिक काल व जल्दी व बहुत ही जल्दी पूर्वसंस्कारके अनुसार सिद्धियां प्राप्त होती हैं ॥ २० ॥

उपाय करनेवालोंमें किसी किसीको शीघ्र (जल्दी) सिद्धियां प्राप्त होती हैं सो आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं:-

तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥ २१ ॥

तीव्रसंवेग योगियोंको समाधि ॥ २१ ॥

दो०--श्रद्धा आदिक यत्नते, तीव्र होत वैराग ।
वाको फल शीघ्रहि मिले, पाव मोक्षकर भाग ॥ २१ ॥

जिन योगियोंका संवेग (वैराग्य) उत्कृष्ट है, उपाय अभ्यास अधिमात्र है अर्थात् अधिक है, उनको जल्दी असं-

प्रज्ञात समाधिकी प्राप्ति होती है, वह उससे जल्दी मोक्षलाभ करता ॥ २१ ॥

मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः ॥ २२ ॥

मृदु मध्य अधिमात्र होनेसे उससे भी विशेष है ॥ २२ ॥

दो०—तीव्र वेग वैरागते, मृदु मध्याधिकमात्र ।
शीघ्र शीघ्रतर शीघ्रतम, है विशेष फलदात्र ॥ २२ ॥

मृदु, मध्य व अधि ये तीनों उत्तरोत्तर एक एकसे अधिक फल देनेवाले हैं, अर्थात् मृदु तीव्रसंवेग समाधिसे योगीको मध्य तीव्रसंवेगसे अधिक जल्दी समाधिलाभ व अधिमात्र तीव्रसंवेगसे अत्यंत दृढ व बहुत ही जल्दी समाधिलाभ होता है यह विशेषता है । तिससे तीव्र-संवेग समाधिसे अर्थात् मृदु तीव्रसंवेग समाधिसे भी मध्यतीव्रसंवेग आदि विशेष हैं ॥ २२ ॥

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥ २३ ॥

अथवा ईश्वर प्रणिधानसे ॥ २३ ॥

दो०-अथवा ईश उपासना, शीघ्रहि मिलत समाधि ।
दृढपूर्वक धारण किये, मिटत सकल जगव्याधि ॥ २३ ॥

कायिक वाचिक व मानसिक ईश्वर प्रणिधानसे अर्थात् भक्ति विशेषसे ईश्वरमें चित्त लगानेसे बहुत जल्दी दृढ समाधि होती है अथवा जो कहा है, यह प्रथम जो उपाय कहा है, उससे भिन्न यह दूसरा उपाय जाननेके अर्थ इस सूत्रमें कहा है ॥ २३ ॥

जिस ईश्वरके प्रणिधानसे समाधिलाभ होता है उसका लक्षण क्या है ? इस बातके जाननेके अर्थ आगे सूत्रमें ईश्वरका लक्षण वर्णन करते हैं:–

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः॥२४॥

क्लेश कर्म विपाक आशयोंसे रहित पुरुषविशेष ईश्वर है ॥२४॥

दोहा—क्लेश कर्म फल रहित जो, आशय सुखदुखहीन ।
असंबद्ध जो पुरुष है, ईश्वर जानहु चीन ॥ २४ ॥

अविद्या अस्मिता राग द्वेष अभिनिवेश ये पांच क्लेश व कर्म, धर्म, अधर्म तिनके फल फलानुकूल संस्कार आशय जो मनमें रहते हैं उनके सम्बन्धसे रहित जो पुरुषविशेष है वह ईश्वर है. विशेषपदसे यह प्रयोजन है कि, जैसे अन्यकर्मविपाक आशयसहित सांसारिक पुरुष हैं वे क्लेश आदि भोग करते हैं, ऐसा ईश्वर नहीं है. तीनों कालमें ईश्वर क्लेश आदि सम्बन्धसे रहित है इससे अन्य पुरुषोंसे विशेष है. मुक्त जीवोंसे भी विशेष है. क्योंकि मुक्तजीव भी पूर्वकालमें त्रिगुण बंधमें थे, वे विवेकद्वारा मुक्त हुए हैं. ईश्वर अनादि शुद्धसत्त्वात्मक त्रिकालमें अविवेक बन्धनरहित है. पुरुषविशेष कहनेसे त्रिकाल निर्बन्ध ज्ञानमय ईश्वरके होनेसे अभिप्राय है ॥ २४ ॥

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥ २५ ॥

तिसमें निरतिशय ज्ञान सर्वज्ञ होनेका बीज है ॥ २५ ॥

दोहा—यथातथ्य सर्वज्ञता, बीज ईश कह जान ।
निरअतिशय सोइ जानिये, न्यूनाधिक नहिं मान ॥ २५ ॥

जिससे अधिक अन्य न हों उसको निरातिशय कहते हैं. तिसमें (ईश्वरमें) जो निरातिशय ज्ञान है वह ईश्वरके सर्वज्ञ होनेका बीज है अर्थात् सर्वज्ञ होनेका ज्ञापक (जनानेवाला) है अर्थात् जिसमें निरतिशय ज्ञान है उसमें सर्वज्ञत्व है, यह जनाता है ॥ २५ ॥

जो यह संशय हो कि शिव विष्णु आदिको ईश्वर मानना चाहिये इस संशय निवारणके अर्थ आगे सूत्रमें विशेषता वर्णन करते हैंः—

स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥२६॥

काल परिमाण रहित होनेसे पूर्ववालोंका भी गुरु है ॥२६॥

दोहा०-कालते अवच्छिन्न नहिं, तिहि कारणते ईश।
ब्रह्मा आदिकको गुरु, गावत जाहि मुनीश ॥ २६ ॥

पूर्वमें जो शिव विष्णु आदि सिद्ध हुए हैं वे कालके अधीन हैं, उत्पत्ति प्रलयको प्राप्त होते हैं. ईश्वर कालअधीन वा कालपरिमाण संयुक्त नहीं है, इससे पूर्ववाले सिद्ध शिव विष्णु आदिकोंका भी गुरु है अर्थात् उनसेभी श्रेष्ठ है ॥ २६ ॥

तस्य वाचकः प्रणवः ॥ २७ ॥

उसका वाचक प्रणव है ॥ २७ ॥

दो०-प्रणव कहत ओंकारको, है ईश्वरको नाम ।
सुमिरणते सब दुख कटत, चित्त लहत विश्राम ॥ २७ ॥

उस ईश्वरका वाचक प्रणव (ओंकार) है अर्थात् ओं यह ईश्वरका अति उत्तम नाम है. केवल इस एक नामसे ईश्वरके अनेक नाम गुणोंका ग्रहण होता है. 'अ उ म्' ये तीन अक्षर मिलकर ओं होता है अकार विराट् अग्नि विष्णु आदि अर्थका वाचक है, उकारसे हिरण्यगर्भ शंकर तैजस नामोंका ग्रहण होता है और मकारसे ईश्वर प्राप्त प्रकृति आदि नामोंका ग्रहण होता है. अब इन सबका अर्थ भाषामें वर्णन किया जाता है-ईश्वर विराट् है अर्थात् विविध प्रकारके जगत्में शोभित प्रकाशित है. अग्नि है अर्थात् वेद शास्त्र ज्ञानवानोंसे सत्कार किया गया पूजित है. विष्णु है अर्थात् सम्पूर्ण आकाशसे पृथ्वीपर्यंत भूतोंमें व्यापक है. हिरण्यगर्भ अर्थात् सम्पूर्ण हिरण्य नाम तेजवान् पदार्थ सूर्य आदि जिसके गर्भमें अर्थात् अन्तर्गत प्राप्त हैं ऐसा हिरण्यगर्भ ईश्वर है. शंकर है अर्थात् कल्याण आनंदका करनेवाला है. तैजस है अर्थात् तेजस्व-

रूप प्रकाशरूप है. ईश्वर है अर्थात् सम्पूर्ण ऐश्वर्यको प्राप्त है. प्राज्ञ है, अर्थात् ईश्वर अति उत्कृष्ट ज्ञानरूप है. प्रकृति है अर्थात् प्रकर्ष करके सब जगत्का उत्पन्न करनेवाला कारण है. यह सब स्तुतिवाचक नाम और अर्थका ग्रहण ओंशब्दमात्रसे होता है. यह संक्षेपसे अर्थ है. इससे अधिक प्रणवका अर्थ है, इससे अनेक ईश्वरके नाम व स्तुतिवाचक प्रणव ईश्वरका सब नामोंमेंसे उत्तम नाम है ॥ २७ ॥

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ २८ ॥

उसका जप उसके अर्थका भावन है ॥ २८ ॥

दो०—ओंकारजप अर्थयुत, अर्थ अनुरूप स्वरूप ।
ईश्वरकी कर भावना, भारतरूप अनूप ॥ २८ ॥

उसका अर्थात् प्रणवका जप व उसका अर्थ जो ईश्वर है उसका भावन है अर्थात् प्रणवका जप करते हुये ईश्वरकी भावना करते हुये योगीका चित्त एकाग्रताको प्राप्त होता है व एकाग्र व जप अभ्याससे चित्तमें प्राप्त परमात्मा प्रकाशित होता है ॥ २८ ॥

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥ २९ ॥

तिससे भिन्न चेतना साक्षात्कार होता है व विघ्नोंका भी अभाव होता है ॥ २९ ॥

दो०—ईश्वरके प्रणिधानते, होत आतमा भान ।
आन्तरीय सब विघ्नको, तब अभाव पहिचान ॥ २९ ॥

तिससे अर्थात् प्रणवके जप व ईश्वर प्रणिधानसे जैसे ईश्वर असंग ज्ञानरूप क्लेश आदि शून्य है इसी तरह जीव चेतनरूप क्लेशरहित है. सदृश होनेसे ईश्वरके ध्यानसे ईश्वरके अनुग्रहद्वारा जीवस्वरूप चेतन सब क्लेशोंसे भिन्न

साक्षात्कार होता है व योगके विघ्नोंका भी अभाव (नाश) होता है ॥ २९ ॥

अब जो विघ्न चित्तको योगसे भ्रष्ट व पतित करते हैं उनको सूत्रमें वर्णन करते हैं-

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥ ३० ॥

व्याधि स्त्यान संशय प्रमाद आलस्य अविरति भ्रांति दर्शन अलब्धभूमिकत्व व अनवस्थितत्व जे चित्तके भ्रष्ट करनेवाले हैं ये विघ्न हैं ॥ ३० ॥

दो०—चित्तविक्षेपक नव कहे, विघ्न महादुखरूप ।
योगविघ्नहू जानिये, ते डारत भवकूप ॥
व्याधि स्त्यान अरु संशय, पौ प्रमाद आलस्य ।
अविरति भ्रांति अरु दर्शन, अलब्धभूमिकोपस्य ॥
अनवस्थित नव जानिये, विघ्न महाबलवान् ।
इनते छूटहि हरिकृपा, योगउदय जिमि भानु ॥ ३० ॥

चित्तके विक्षेप करनेवाले जो विघ्न महापापरूप हैं, वे ही योगमें भी विघ्न डालनेवाले हैं. अपने प्रभावसे संसृतिसे रहित नहीं होने देते हैं. भवसागरमें डाल देते हैं. उनका विवरण किया जाता है—वात, पित्त, कफ व अन्नरस इन्द्रियोंकी विषमता व्याधि है; चित्त अत्यन्त चाहता है, परन्तु उसका कर्म करनेको समर्थ न होना स्त्यान है, जिसमें संशय होता है उसका ग्रहण नहीं होता, इससे संशय विघ्न है, योगके अंगोंके अनुष्ठान करनेमें प्रीति न होना प्रमाद है शरीर व चित्तकी गुरुता (गरुवई) से अर्थात् शरीर व चित्तमें आरामकी इच्छासे योगमें

प्रवृत्त न होना आलस्य है; विषयकी तृष्णा अविरति है, यथार्थ रूपका ज्ञान न होना अन्य अन्य ज्ञान होना भ्रांतिदर्शन है, चित्तका समाधि भूमिमें स्थिर न होना अलब्धभूमिकत्व है, समाधि भूमिको लाभ करके चित्तका उसमें स्थिर न रहना अनवास्थितत्व है. ये नव प्रकारके विघ्न हैं ॥ ३० ॥

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वास-विक्षेपसहभुवः ॥ ३१ ॥

दुःखः दौर्मनस्य अंगमेजयत्व. श्वास प्रश्वासः विक्षेपके साथ होते ॥ ३१ ॥

दो०—दुख दुर्मन औ अंगजय, श्वास और प्रश्वास ।
सहकारी विक्षेपके, संगहि करत प्रकाश ॥ ३१ ॥

ऊपर कहे हुए व्याधि आदिके सहकारी य दुःख आदि भी योगके विघ्न हैं. व्याधिसे उत्पन्न शारीरिक दुःख, काम आदिसे मानसिक दुःख, दोनोंसे आध्यात्मिक दुःख, व्याघ्र आदिसे उत्पन्न आधिभौतिक दुःख और ग्रहपीडा आदि आधिदैविक दुःख भी विघ्न हैं. इच्छाके विघातसे मनमें क्षोभ होना दौर्मनस्य (द्वेष) है; विना इच्छा अंगका काँपना अंगमेजयत्व है, तथा विना पूरक रेचक इच्छा निष्फल वायुका भीतर जाना श्वास वॅ कोष्ठके वायुका बाहर निकलना प्रश्वास विक्षेपोंके साथ ये होते हैं अर्थात विक्षिप्त चित्तमें ये दुःख, दौर्मनस्य आदि होते ह ॥ ३१ ॥

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥ ३२ ॥

तिनके नाशके अर्थ एकतत्त्वका अभ्यास करना चाहिये॥ ३२॥

दो०—तिनके प्रतिषेधन निमित, एक तत्त्व अभ्यास ।
ईश्वर एक उपासना, करत विघ्न सब नाश ॥ ३२ ॥

तिन विघ्नोंके नाशके अर्थ एकतत्त्व जो ईश्वर उसका अभ्यास (उपासना ध्यान) करना चाहिये ॥ ३२ ॥

अब चित्तके शुद्ध होने व एकाग्र होनेका उपाय क्या है ? सो आगे सूत्रमें वर्णन करते हैंः—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥ ३३ ॥

सुखी प्राणियोंमें मित्रता, दुःखी प्राणियोंमें दया, पुण्यशीलोंमें अर्थात् धर्मवानोंमें हर्ष, व अपुण्यशील अधर्मवानोंमें उदासीनता भावना करनेसे चित्तकी प्रसन्नता होती है ॥ ३३ ॥

दो०--सुखिपनते मैत्री करहि, दुखिपन करुणा मूर ।
पुण्यात्माते हर्ष अरु, पाप उदास भरिपूर ॥
इहिं प्रकार साधन करे, चित्त लहत आनन्द ।
सब जगसों हिलमिल रहै, पावत परमानन्द ॥ ३३ ॥

सुखी प्राणियोंमें मित्रभाव करनेसे ईर्षामलकी निवृत्ति होती है, दुःखीमें दया अर्थात् दुःख दूर करनेकी भावना करनेसे अपकार करनेकी इच्छारूप पापमल चित्तसे दूर होता है, धर्मवानोंमें हर्ष भावना करनेसे असूया (पैलगाना) का पापमल चित्तसे दूर होता है और पापीपुरुषोंमें मध्यस्थवृत्ति अर्थात् हर्ष शोक दोनों न करके उदासीन रहनेकी भावना करनेसे क्रोधमल चित्तसे दूर होता है, इस प्रकारसे रज तम गुण निवृत्त होनेसे उत्तम शुद्ध सात्त्विक धर्म प्राप्त होता है व चित्त प्रसन्न व योग अभ्यासके योग्य होता है ॥ ३३ ॥

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥ ३४ ॥

वा (या) प्राणके प्रच्छर्दन व विधारणसे ॥ ३४ ॥

दो०-प्रच्छर्दन और विधारणा, प्राणवायुकी जीत ।
चित्त स्थित और स्वस्थ कर, आनंद पावत मीत ॥ ३४ ॥

मैत्री आदि जो उपाय चित्तके प्रसन्न होनेके पूर्वसूत्रमें कहे हैं उनसें अन्य उपाय ये भी हैं यह सूचन करनेके अर्थ 'वा' शब्द सूत्रमें कहा है. प्राणवायुको नासिकापुटद्वारा रचन करना (बाहर निकालना प्रच्छर्दन है व उसको बाहर रोक रखना विधारण है. प्रच्छर्दन विधारण करनेसे चित्त शांत हो स्थितिको प्राप्त होता है, प्राणके जीतनेसे चित्तभी जीता जाता है, प्राणायामसे पाप दूर होते हैं, पाप दूर होनेसे चित्त स्थिर होता ॥ ३४ ॥

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी ॥ ३५ ॥

वा विषयवती प्रवृत्ति उत्पन्न हुई मनकी स्थितिको निबन्धन करनेवाली ह ॥ ३५ ॥

दो०-औरों कहत उपाय अब, विषयावती सुगन्धि ।
चित्तकी वृत्ति निवृत्तिकर, मनको राखत बन्धि ॥ ३५ ॥

इस सूत्रमें भी उपायान्तर (अन्य उपाय) जनानेके अर्थ 'वा' शब्द रक्खा है, नासिकाके अग्रभागमें चित्तके संयमसे, (संयम धारणा ध्यान समाधि तीनोंका समुदाय वाचक है जैसा आगे ग्रन्थमें वर्णन किया गया है,) गन्ध साक्षात्कार होता है, जिह्वाके अग्रमें संयम करनेसे दिव्य रस, मध्यमें संयमसे स्पर्श, मूलमें संयमसे शब्दसाक्षात्कार होता है, यह गन्ध आदि विषयवती प्रवृत्ति जल्दी उत्पन्न हो विश्वासकी कारण होकर अति सूक्ष्म ईश्वरमें मनकी स्थितिको प्राप्त करती है, शास्त्रमें कहेहुए किसी अनुभवके होनेसे सूक्ष्ममें भी श्रद्धापूर्वक संयममें प्रवृत्त होता है ॥ ३५ ॥

विशोका वा ज्योतिष्मती ॥ ३६ ॥

विशोका वा (या) ज्योतिष्मती ॥ ३६ ॥

दो०—विशोका वा ज्योतिष्मती चित्त स्थिरकर मूल ।
दुखहर करत प्रकाश अरु, संवित प्रवृति अभूल ॥ ३६ ॥

हृदयमें जो अधोमुख अष्टदल हृदय रूप कमल है उसको रेचक वायुसे ऊर्ध्वमुख करके उसके बीचमें स्थित ऊर्ध्व है मुख जिसका ऐसी सुषुम्णा नाडीमें संयम करनेसे मनसंवित् होता है अर्थात् मनमें प्रकाश रूप साक्षात्कार होता है. वह मन सूर्य चन्द्र नक्षत्र मणिगणोंका जो जो तेज है उस उस रूपसे अनेक प्रकारका होता है; उनकी सात्त्विक ज्योति मन है, उसका कारण सात्त्विक अहंकार है. उसका भी ज्योति है, उसके ज्योतिस्स्वरूपके संयमसे संवित होता है, वह संवित् दो प्रकारका होता है ज्योतिष्मती व विशोका. प्रकाश प्राप्त होनेसे ज्योतिष्मतीसंज्ञा है व दुःख शून्य होनेसे विशोकासंज्ञा है. यह विशोका वा ज्योतिष्मती प्रवृत्ति उत्पन्न हुई मनकी स्थितिका हेतु होती है ॥ ३६ ॥

अब अन्य हेतु मनके स्थिर होनेका वर्णन करते हैं:—

वीतरागविषयं वा चित्तम् ॥ ३७ ॥

अथवा वीतरागविषय चित्त ॥ ३७ ॥

दो०—अथवा रागविहीन चित, मन थिर करन उपाय ।
रागसहित चित होत जब, कबहुँ न थिरता पाय ॥ ३७ ॥

वीतराग जो व्यास शुक आदि हैं उनका भाव (विषय) जिस चित्तका विषय है वा होता है वह स्थिर होता है अर्थात् वीतरागोंके चित्तका भाव जो विराग है वह विषय है जिस चित्तका वह स्थिर होता है अर्थात जिस चित्तमें विराग होता है वह स्थिर होता है, चित्त रागरहित होना भी चित्तकी स्थिरताका उपाय है, राग-

सहित चित्त कभी स्थिर नहीं होता है यह फलितार्थ है ॥ ३७ ॥

स्वप्ननिद्राज्ञानावलम्बनं वा ॥ ३८ ॥

या स्वप्नज्ञानावलंबन व निद्राज्ञानावलंबन योगीके चित्तके स्थिर होनेका हेतु है ॥ ३८ ॥

दो०—यथा स्वप्न निद्राविषै, आलम्बन चित होय ।
मन थिरताकर विषय यह, मानहु दृढकर सोय ॥ ३८ ॥

स्वप्नमें जो अत्यंत मनोहर स्वरूप किसी देवता वा महात्माका देखे कोई प्रकाश व तेजमान पदार्थ देखे जिससे चित्त प्रसन्न हो उसमें चित्त लगाने ध्यान करनेसे चित्त स्थिर होता है अथवा निद्रा जो सुषुप्ति है जो सुख दुःखसे रहित हो शांत रहता है, उस ज्ञानको चित्तमें धारण करे तो चित्त स्थिर होता है अर्थात् स्वप्न ज्ञानावलंबन और निद्राज्ञानावलंबनसे भी योगीका चित्त स्थिर होता है ॥ ३८ ॥

यथाभिमतध्यानाद्वा ॥ ३९ ॥

वा यथाभिमत ध्यानसे ॥ ३९ ॥

दो०—अथवा अभिमत ध्यानते, मन निश्चलता होय ।
चित चाहै जिस वस्तुको, तिहि ध्याये थिर होय ॥ ३९ ॥

जिसको चित्त चाहे, जिसमें प्रीति हो, उसीका ध्यान करे, जब उसमें चित्त स्थिर होजायगा तब उससे भिन्न—अन्यमें भी स्थितिको लाभ करेगा, इससे यथारुचि ध्यान करनेसे भी योगीका चित्त स्थिति पदको लाभ करता है ॥ ३९ ॥

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥ ४० ॥

परमाणु व परम महत्त्वके अंततक इसका वशीकार है ॥ ४० ॥

दो०—पूरव उक्ति उपायते, चित्त स्थिर अस होइ ।
अतिसूक्ष्म स्थूलको, ग्राम लेत है सोइ ॥ ४० ॥

सूक्ष्मके अंतमें परमाणुतक व स्थूलके अंतमें परम महत्त्व (विराट् स्वरूप) तक इसका चित्तका वशीकार है. अभिप्राय यह है कि सूक्ष्ममें परमाणुतक व स्थूलमें महत्त्वतक चित्त स्थिति पदको लाभ करता है, अति सूक्ष्म व अति स्थूल दोनों कोटिमें जाता जो चित्त है उसका कहीं रोक न होना व कहीं रागको प्राप्त न होना, यह परव- शीकार है, इस वशीकारसे योगीका चित्त परिपूर्ण होकर स्थिर होकर फिर अभ्यास व कर्मकी अपेक्षा नहीं करता ॥ ४० ॥

जब चित्त स्थितिको लाभ करता है तब उसका क्या स्वरूप क्या विषय होता है ? यह वर्णन करते हैं:-

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः ॥ ४१ ॥

क्षीणवृत्ति चित्तका अति स्वच्छ मणिके तुल्य ग्रहणकर्ता उनके ग्रहण ग्राह्यम उनमें स्थित होना स्वरूपाकार होना समापत्ति है ॥ ४१ ॥

दो०—क्षीणवृत्तिकर चित्त जब, स्वच्छ होत मणिरूप ।
जिहिं उपाधि अनुरक्तचित, भासत तिहिं अनुरूप ॥
गृहीत ग्रहण और ग्राह्यमें, जहां चित स्थित होइ ।
तिहिं समान भासन लगत, समापत्ति कह सोइ ॥ ४१ ॥

जब चित्तकी वृत्तियोंका नाश हो जाता है तब चित्त स्वच्छ मणि- रूप प्रकाशित होता है फिर जिस उपाधिमें वह चित्त लग जाता है तब उसीके तुल्य प्रतीत होने लगता है. ग्रहीता जैसा अभिजात मणि अर्थात् स्वच्छ स्फटिकमणि जपाकुसुम आदिके समीप उन्हींके रक्त (लाल) आदि रंग वा रूपके सदृश भासित होता है इसी प्रकारसे अभ्यास वैराग्यवशसे रजोगुण तमोगुण वृत्तियोंसे रहित चित्तमणि

सत्त्वरूप स्वच्छ ग्राह्य, स्थूल सूक्ष्मभूत ग्रहण कारणरूप इन्द्रिय व ग्रहणकर्ता पुरुष इनकी आकारताको प्राप्त होता है अर्थात् इनके रूपसें भासित होता है. सूक्ष्मभूतमें उपरक्त सूक्ष्मभूत आकार स्थूलमें स्थूल स्वरूप आकार ग्रहणरूप इन्द्रियोंमें इन्द्रिय आकार व ग्रहणकर्ता पुरुष अवलम्बनमें उपरक्त पुरुष स्वरूपसे भासित होता है. इस प्रकारसे ग्रहीता (ग्रहण कर्ता) व ग्रहण व ग्राह्यपुरुष इन्द्रियभूतोंमें जिसमें जो स्वरूप आकार है उसमें स्थित हो उसी स्वरूप आकारसे भासित होता है अर्थात् स्वच्छचित्त जिस पदार्थमें संयम करता है उसी रूपसे आप भासित होता है. यह संप्रज्ञातयोग है, जो पूर्वही कहागया है ॥ ४१ ॥

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः सङ्कीर्णा सवि-
तर्का समापत्तिः ॥ ४२ ॥

तिनमें शब्द अर्थ ज्ञानके विकल्पोंसे मिलीहुई
सवितर्का समापत्ति है ॥ ४२ ॥

सो०—शब्द अर्थ ज्ञान, पृथक् पृथक् तीनों अहैं ।
सम्मीलित त्रय जान, सवितर्का समापत्तिमें ॥ ४२ ॥

समापत्ति समाधिको कहते हैं. पूर्व सूत्रमें जो ग्रहणकर्ता, ग्रहण व ग्राह्यरूप चित्तका भासित होना समापत्ति वर्णन किया है, यही संप्रज्ञात योग है. जिसके सवितर्क सविचार सानन्द सास्मिताभेद कहे गये हैं तिनके लक्षण यहां सूत्रोंमें क्रमसे सूत्रकार वर्णन करते हैं. तिनमें प्रथम सवितर्कसमापत्तिका लक्षण इस सूत्रमें कहा है कि,तिन समापत्तियोंमें शब्द अर्थ व ज्ञानके विकल्पोंसे मिली हुई जो समापत्ति है वह सवितर्क समापत्ति है.. जैसे गौ यह संज्ञा शब्द है जिस पदार्थका वाचक गोशब्द है वह अर्थ है. शब्द व अर्थका जो बोध होता है

वह ज्ञान है, यद्यपि विकल्पसे ये तीन हैं तथापि विना विभागके इनका ग्रहण एक ऐसा गौ पदार्थका लोकमें किया जाता है, जब इनके विभाग किये जाते हैं तब शब्द आदि भिन्न भिन्न जाने जाते हैं, इनको भेदरहित अर्थात् शब्द व ज्ञानके भेदरहित गौ अर्थमें समाहित चित्त योगीको समाधिमें यथा कल्पित अर्थ मात्र साक्षात्कार होता है, तथा शब्द अर्थ ज्ञानोंके विकल्पसे संकीर्ण समाधि प्रज्ञा यथा कल्पित शब्दमात्र वा ज्ञानमात्र स्वरूपसे साक्षात्कार होती है,विकल्पत्वके विशेष न होनेसे यह संकीर्णा समापत्ति सवितर्का समापत्ति कही जाती है ॥ ४२ ॥

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्ये वाऽर्थमात्र-निर्भासा निर्वितर्का ॥ ४३ ॥

स्मृति परिशुद्धि होनेमें स्वरूप शून्य ऐसा अर्थमात्रका भासित होना निर्वितर्का है ॥ ४३ ॥

दो०-स्मृतिकी परिशुद्धिते, रहत नहीं कछु याद ।
नहिं जानत निजरूपसो; भासत अर्थ अवाद ॥
निर्वितर्कको पायकर, केवल भासत ध्येय ।
ध्याता ध्यान न भास कछु, होत स्मृती हेय ॥ ४३ ॥

स्मृतिकी परिशुद्धि होजानेसे अर्थात् याददास्त न रहनेसे अपने रूपको भी नहीं जानता, केवल उसको अर्थमात्र अर्थात् पदार्थमात्र भासित होता है, परिशुद्धिशब्दका अभिप्राय त्याग वा रहित होनेसे है, शब्दोंकी शक्तिरूप संकेत विकल्पित अर्थोंमें ग्रहण किया जाता है, शब्द संकेत व श्रुत व अनुमान इनका ज्ञानही विकल्प है, विकल्पकी कारण स्मृति है, जो स्मृतिरहित समाधि प्रज्ञामें उसका जो स्वरूप ग्रहणात्मक है उसमें भी शून्यके तुल्य केवल ध्येय अर्थमात्र भासित

होता है वह निर्वितर्का समापत्ति है अर्थात् जो समाधि प्रज्ञा स्मृतर-हित हो व स्मृतिके त्याग वा रहित होनेसे अपना जो स्वरूप ग्राह्यके ग्रहण करनेका है उसको त्याग करके ग्राह्यपदार्थ रूपके सदृश होती है वह निर्वितर्का समापत्ति है, सवितर्काकी अपेक्षा यह परं प्रत्यक्ष है, क्योंकि सत्य अर्थमात्र विकल्परहितका इसमें प्रत्यक्ष होता है,वह सत्य अर्थ अवयवी स्थूल पदार्थ है कोई यह शंका करते हैं कि, परमाणुपुं-जसे भिन्न अवयवी नहीं है, अवयवी मानना मिथ्याज्ञान है, इसका उत्तर यह है, जो अवयवी नहीं है, परमाणुपुंजका एकत्र होना ही स्थूलरूप परिणाम है तो परमाणु कारणसे कार्यरूप स्थूल होना संभव नहीं होता, क्यों कि जो स्थूल परिणाम परमाणुसे भिन्न माना जाय तो कारण कार्य संबन्ध नहीं रहता, जैसे पट व घटमें पटसे घट व घट से पट होना असंभव है और जो अभिन्न (पृथक्ता वा भेदरहित) अंगीकार कियाजावे तो परमाणुके सदृश सूक्ष्म अदृश्य होना चाहिये. व अदृश्य होनेपरभी जहां तक अवयवी होनेका बुद्धिद्वारा अनुमान होवे वह सब मिथ्या ज्ञान है, सब मिथ्या होनेमें सब होनेका ज्ञान भी विषयके अभावसे कुछ न रहेगा, जिस २ स्थूल पदार्थकी उपलब्धि (प्रत्यक्षता) होती है उनके अवयवी होनेसे होती है, तिससे अवयवी ही है, अवयवी महान् (स्थूल) होनेका कारण व निर्वितर्का समाप-त्तिका विषय होता है, यह संक्षेपसे वर्णन कियागया ॥ ४३ ॥

अब सविचारा निर्विचाराका वर्णन करते हैं:—

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ॥ ४४ ॥

इसीके समान सविचारा निर्विचारा भेदसे सूक्ष्म विषयरूप या सूक्ष्मविषयवाली समापत्ति व्याख्यान की गई है ॥४४॥

दो०--सवितर्का निर्वितर्कसम, सविचारा निर्विचार।
स्थूला पहिली जानिये, पिछली सूक्ष्म सम्हार ॥
पंचभूत परमाणु अरु, देश काल गन्धादि ।
भान होत सविचारमें, सूक्षम विषय अनादि ॥
निर्विचार भासत रहै, शून्य अर्थ अनुरूप ।
सब विकल्पकर रहित जो, भासहि सूक्ष्म स्वरूप ॥ ४४ ॥

इसके समान अर्थात् स्थूल विषयोंके समान जैसे स्थूल विषयवाली समापत्तिके दो भेद सवितर्का व निर्वितर्का कहे गये हैं इसी प्रकारसे सूक्ष्मविषयोंमें सविचारा व निर्विचारा दो भेद हैं, यह जानना चाहिये. इससे स्थूलविषयाके तुल्य सूक्ष्मविषया समापत्ति व्याख्यान कीगई है, यह समझना चाहिये, यह सूत्रका अभिप्राय है. फलितार्थ इसका यह है कि, जैसे स्थूल विषयमें सवितर्का व निर्वितर्का दो भेदसे समापत्ति ध्येयमें होती है इसी प्रकारसे सूक्ष्म विषयमें अर्थात् सूक्ष्म ध्येयमें सविचारा व निर्विचारा दो भेदसे समापत्ति होती है यथा घट आदि यह स्थूल विषय है, इनमें प्रत्यक्षसे देखनेमें परमाणुओंको गन्ध आदि सूक्ष्म मात्रासहित पृथिवी आदि भूतोंके पृथक् पृथक् होनेका बोध नहीं होता, विचारसे होता है. सूक्ष्म भूत जे स्थूल भूतोंको परिणाम घट आदिकोंमें उपादानरूप कारण व देशकालके अनुभवसे अवच्छिन्न (देशकालके अनुभवसंयुक्त) जे परमाणु हैं उनमें, जो समापत्ति है वह सविचारा कही जाती है. यथा घट आदि पदार्थोंमें जो परमाणु कारणसे उत्पन्न एक पदार्थ जाना जाता है उसमें देशकाल कार्य कारणका विचार करना पदार्थके नीचे ऊपर इधर उधर

यह देश है, पदार्थके बोध होनेके समयमें वर्तमान काल है गन्धमात्राकी प्रधानता संयुक्त पञ्च तन्मात्राओंसे (गन्ध रस रूप स्पर्श शब्द-मात्रोंसे) पृथिवीके परमाणुओंकी उत्पत्ति विचार करनेमें पञ्चतन्मात्रा कारण है इसी प्रकारसे आप्य (जलवाले) परमाणुओंकी उत्पत्ति गन्धवर्जित रसकी प्रधानता संयुक्त चार तन्मात्राओंसे, तैजस (तेज वालों) की गन्धरसरहित रूपकी प्रधानता संयुक्त तीन मात्राओंसे, वायवीय (वायुवाले परमाणुओंकी गन्ध रस रूप रहित स्पर्शकी प्रधानता संयुक्त दो मात्राओंसे, व नभ (आकाश) को शब्द तन्मात्रासे होनेमें जानना चाहिये, यहां उत्पत्ति होनेसे कार्यभाव होने व एक दूसरेकी अपेक्षा सूक्ष्म व स्थूल भेदसे पर अपर होनेसे अभिप्राय है, यह अनेक विशेषणविशिष्ट विकल्पित परमाणुओंमें समापत्ति संविचाराज है, सब विशेषण विकल्परहित प्रज्ञास्वरूप शून्यके तुल्य अर्थमात्र परमाणुओंमें जो समापत्ति है अर्थात् अर्थमात्रका समाधिप्रज्ञामें भासित होना निर्विचारा समापत्ति है ॥ ४४ ॥

सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम् ॥ ४५ ॥

सूक्ष्म विषय होनेकी अवधि (मर्यादा) अलिंगपर्यंत है ॥ ४५ ॥

दो०--सूक्ष्म विषयकी अवधिगत, जानहु प्रकृतिपर्यंत ।
प्रकृतिअलिंगसमान अरु, सूक्ष्म विषयकर अंत ॥ ४५ ॥

पृथिवीके परमाणुओंका तन्मात्रा गन्ध सूक्ष्म विषय है, तथा जलके परमाणुओंका रस, अग्निके परमाणुओंका रूप, वायुके परमाणुओंका स्पर्श, आकाशका शब्द इनसे सूक्ष्म अहंकार, अहंकारसे सूक्ष्म लिंग (महत्तत्त्व), महत्तत्त्वसे सूक्ष्म अलिंग (प्रकृति वा प्रधान) है, प्रधानतक सूक्ष्मताका अन्त है, प्रधानसे अधिक सूक्ष्म नहीं है, जो यह

कहाजावे कि प्रधानसे अधिक पुरुष आत्मा हैं तो यथा प्रधान महत्तत्त्वआदिके रूपमें परिणत होता है, वैसे पुरुष नहीं होता, इससे प्रधानही सृष्टिका आदि सूक्ष्म उपादान कारण है, पुरुष नहीं है, सूक्ष्म कारण तक सूक्ष्मताके अन्तको वर्णन किया है ॥ ४५ ॥

ता एव सबीजसमाधिः ॥ ४६ ॥

वे ही सबीज समाधि हैं ॥ ४६ ॥

दो०—समापत्ति जो पूर्वमें, कथन करीं हम चार ।
सोई सबीज समाधि है, जानहु सत्य विचार ॥ ४६ ॥

ग्राह्यविषयमें जो पूर्वमें वर्णन की गयी स्थूल अर्थमें सवितर्का निर्वितर्का व सूक्ष्म अर्थमें सविचारा निर्विचारा समापत्ति है वह बाह्यपदार्थके बीज संयुक्त है, ये चारों मिलाके एक सबीज समाधि संज्ञासे कही जाती है. कोई ग्रहणकर्ता व ग्रहणमेंभी विकल्प अविकल्प भेदसे असानन्दा (जिसमें आनन्द नहीं प्राप्त हुआ) व आनन्दा (जिसमें आनन्द प्राप्त हुआ) तथा असास्मिता (अस्मितारहित) व अस्मिता चार और मानते हैं. अस्मिता ग्रहणकर्ता पुरुषको बुद्धिशक्तिद्वारा अपनाही करके मानना चाहिये, जैसा आगे वर्णन किया है. ये आठ समापत्ति सब सबीज समाधि हैं ॥ ४६ ॥

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥ ४७ ॥

निर्विचारके शुद्ध व स्वच्छ होनेमें प्रकाशरूप स्वाभाविकी प्रसन्नता होती है ॥ ४७ ॥

दो०—निर्विचार समाधिमें, जबही विशारद होय ।
अधिआतमा परसाद औ, निखिलज्ञानयुत सोय ॥ ४७ ॥

रजोगुण तमोगुण मल जो कि ज्ञानका आवरण व अशुद्ध रूप है वह दूर होजानेसे बुद्धिसत्त्वका स्वच्छ व स्थिति प्रवाह

होना वैशारद्य है, जब निर्विचारसमाधिके वैशारद्यकी प्राप्ति होती है तब योगीको अध्यात्म प्रसाद होता है अर्थात् प्रकाशस्वभाव बुद्धि-सत्त्वके स्वच्छ व निर्मल होनेसे अनेक पदार्थको एकसाथ विनाक्रम सूक्ष्म व स्थूलको साक्षात् करता है, जैसे पर्वतपर बैठे हुएको नीचे पृथिवीमें धरे हुए पदार्थोंका दर्शन वा ज्ञान होता है, जब निर्विचार समाधिमें प्रवीण हो जाता है तब आत्मा प्रसन्न होता है ॥ ४७ ॥

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥ ४८ ॥

तिसमें प्रज्ञाकी ऋतंभरासंज्ञा होती है ॥ ४८ ॥

दो०—अध्यात्मा परसादते, बुद्धि होत अनूप ।
ऋतंभरा प्रज्ञा सोई, शुद्धिबुद्धि अनुरूप ॥ ४८ ॥

तिसमें (वैशारद्यके प्राप्त होनेमें) निर्विचार समाधिसे जो प्रज्ञा अर्थात् बुद्धि उत्पन्न होती है उसकी 'ऋतंभरा' संज्ञा है, ऋत सत्यको कहते हैं, सत्यका धारण करती है अर्थात् उसमें भ्रम अज्ञानका सर्वथा नाश होजाता है. यथार्थ सत्यज्ञान होता है, इससे 'ऋतंभरा' संज्ञा है ॥ ४८ ॥

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ॥४९॥

विशेष अर्थ होनेसे श्रुतप्रज्ञा व अनुमान प्रज्ञासे भिन्न विषयरूप ऋतंभरा है ॥ ४९ ॥

दो०—श्रवण और अनुमानते, ऋतंभरा अति भिन्न ।
प्रज्ञा अर्थ विशेषके, करत विदित सब चिह्न ॥ ४९ ॥

पूर्व सूत्रमें जो ऋतंभरा प्रज्ञा कहीगई है वह श्रुतप्रज्ञा (वेदज्ञान) व अनुमान प्रज्ञा (अनुमानज्ञान) इन दोनोंसे भिन्न है. क्योंकि, वेदमें जो शब्द हैं उनका संकेत विशेष ज्ञानके साथ नहीं है. आगमज्ञान सामान्य विषयक है अर्थात् जैसा शब्दके अर्थसे जाना जाता है उससे सामान्य

ज्ञान होता है ऋतंभरा प्रज्ञामें विशेष सत्य ज्ञान व पदार्थ साक्षात् होता है, ऐसा ज्ञान वेदाध्ययनसे नहीं होता तथा प्रत्यक्षद्वारा सामान्य पूर्व सम्बन्धज्ञानसे जहाँ व्याप्तिकी प्राप्ति है वहाँ अनुमान होता है, जहां नहीं है वहां नहीं होता. तिससे श्रुत व अनुमानज्ञान विशेषविषयक नहीं है. ऋतंभरा समाधि प्रज्ञामें प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष दूरदेश व निकट- देशमें जो पदार्थ हैं सबका सत्य ज्ञान होनेसे ऋत (सत्य) विशेष अर्थ विषय है. विशेष अर्थ होनेसे श्रुत व अनुमान प्रज्ञा (बुद्धि वा ज्ञान) से भिन्न विषयरूप है ॥ ४९ ॥

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥ ५० ॥

तिससे उत्पन्न संस्कार अन्य संस्कारका प्रतिबंधन करनेवाला है ॥ ५० ॥

दो०—ऋतंभराते होत जो, संस्कार अति शुद्ध ।
प्रतिबंधक है अन्यको, जे संस्कार अशुद्ध ॥ ५० ॥

तिससे ऋतंभरा समाधिप्रज्ञासे उत्पन्न संस्कार अधिकार है, वह अन्य व्युत्थान संस्कारका प्रतिबन्धन करनेवाला (रोकनेवाला) है, इस संदेह निवारणके अर्थ कि शब्द आदि विषय भोग संस्कार जो व्युत्थान अवस्थामें अति प्रबल है उससे समाधिप्रज्ञामें कैसे स्थिति होती है यह कहा है कि समाधिप्रज्ञासे उत्पन्न संस्कार व्युत्थान संस्कारको रोकता है. वैराग्य अभ्यासकी दृढतासे समाधिप्रज्ञामें व्युत्थान (विषयभोगमें इन्द्रिय चलायमान वा लोलुप रहनेकी अवस्था) संस्कार क्षीण होजाता है, बाधा नहीं कर सकता, समा- धिप्रज्ञा उसकी बाधक होती है, चित्तके दो कार्य हैं, शब्द आदि विषयोंका उपभोग व विवेकख्यातिसम्प्रज्ञातयोगमें निर्विचार समाधि- प्रज्ञामें क्लेश कर्माशय सहित शब्द आदि उपभोगमें प्रवृत्त जो प्रज्ञा

है उसके संस्कारोंका निरोध होजाता है, विवेकख्याति संस्कार मात्र रहता है, इससे समाधिप्रज्ञामें चित्त विषयभोगका निरादर करता है, उसमें प्रवृत्त नहीं होता ॥ ५० ॥

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ॥ ५१ ॥

इति पातञ्जले योगशास्त्रे समाधिनिर्देशो नाम प्रथमः पादः ॥ १ ॥

उसके भी निरोध होनेमें सबके निरोध होनेसे निर्बीज समाधि होती है ॥ ५१ ॥

दो०—ऋतंभरा संस्कारहू, जब निरोधको साधि ।
सब निरोधतें होत है, तब निर्बीज समाधि ॥
पुनि निर्बीज समाधिते, जीवनमुक्ती होत ।
नाशत दुख उत्कर्ष सब, सुखस्वरूप लह जोत ॥ ५१ ॥

उस ऋतंभराके समाधि प्रज्ञाके भी निरोध होनेमें सब समाधि प्रज्ञाकृत संस्कारोंके निरोध होनेसे निर्बीजसमाधि होती है अर्थात् पर वैराग्यसे संप्रज्ञातसमाधि प्रज्ञाके निरोध होनेसे उसके कार्य संस्कारोंका भी निरोध होजाता है. कारणके अभावमें कार्यकी उत्पत्तिका अभाव होता है. वृत्तिमात्र सब संस्कारके निरोध होनेसे निर्बीज समाधि होती है. दीर्घ कालतक निरंतर साधनसे व परवैराग्यसे उत्पन्न संकारसे समाधि प्रज्ञा संस्कार विवेक ख्याति व विभूति प्राप्ति आदि हैं उनका निरोध होता है. सम्पूर्ण चित्तकी वृत्तियोंके अभाव होनेसे शुद्ध आत्मा आनन्दस्वरूपमें योगीका लय होता है. अब यह संशय है कि, प्रथम प्रत्यक्ष ज्ञान होता है; प्रत्यक्षद्वारा स्मृतिसे अनुमान आदिसे ज्ञान होता है, सब वृत्तियोंके निरोध होनेमें प्रत्यक्ष व स्मृतिका होना संभव नहीं है. प्रत्यक्ष व स्मृतिके अभाव होनेसे पर

वैराग्यसे उत्पन्न संस्कार आत्मामात्र साक्षात् होनेमें क्या प्रमाण है ? उत्तर यह है—कि, कालक्रम अनुभव करके निरुद्ध चित्तकृतसंस्कारोंका अनुमान करना चाहिये अर्थात् जैसे मुहूर्त अर्द्धयाम वा याम रात्रि दिन आदि क्रमसे कालकी अधिकता होती है इसी कालक्रम अनुभवसे वैराग्य अभ्यासके उत्कृष्ट वा अधिक होनेके अनुसार एक मुहूर्त आधे पहर एक पहर आदि तक निरोध (वृत्तियोंका रुकजाना) की अधिकता होते जानेसे योगीको अति उत्कृष्ट वैराग्य व अभ्यास होनेमें अति निरोध हो जानेका अनुभव होता है,अर्थात् घटी क्षण पहरतक निरोध होनेसे योगीके अनुमानसे यह निश्चित होता है कि, अतिवैराग्य व अभ्यासको उत्कृष्ट होनेमें अतिनिरोध होना युक्त है, इस तरह निरोधजनामक परवैराग्यसे उत्पन्न संस्कारके होनेका प्रमाण है. निर्बीज संस्कार प्रचयमें व्युत्थान व संप्रज्ञातसे उत्पन्न संस्कार व निरोधज संस्कारों सहित चित्त अपनी प्रकृतिमें लय होता है. चित्तके लयः हो जानेसे सब वृत्तियोंका अभाव होजाता है. निश्चल स्थिति प्राप्त होती है. चित्तके प्रलय होनेमें पुरुष स्वरूप प्रतिष्ठित (अपने तत्त्वरूपमें प्राप्त) शुद्ध मुक्तरूप होता है अर्थात् जब ऋतंभरा प्रज्ञाकाभी निरोध हो जाता है तब निर्बीज समाधि जाननी चाहिये, तिस निर्बीज समाधिसे जीवन्मुक्त होता है, तब दुःख सब नाश होकर सुखस्वरूप ज्योतिको पाता है ॥ ५१ ॥

इतिश्रीपातञ्जले योगशास्त्रे श्रीमद्धार्मिकप्यारेलालात्मजबाँदामण्डला-न्तर्गततेरहीत्याख्यग्रामवासिश्रीप्रभुदयालुनिर्मिते भाषाभाष्ये समाधिपादः प्रथमः समाप्तः ॥ ११ ॥

अथ साधनपादः २,

अब द्वितीयपादमें साधनका वर्णन करते हैं--

तपस्स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानी क्रियायोगः ॥ १ ॥

तप स्वाध्याय व ईश्वरप्रणिधान क्रियायोग है ॥ १ ॥

दो--श्रीमत्पातञ्जलिचरण, शीश नाय कर जोरि ।
भाषाबन्ध सुछन्द कर, साधनपाद बहोरि ॥
क्रियायोगके रूप अब, जानहु तीनि अनूप ।
तपस्स्वाध्याय और ईशको, दृढ प्रणिधानस्वरूप ॥ १ ॥

क्रियायोगके तीन रूप हैं--१ तप, २ स्वाध्याय, व ३ ईश्वर प्रणिधान, ब्रह्मचर्य, गुरुकी सेवा, सत्य वचन, अपने आश्रम धर्ममें प्रवृत्त होना, साधन क्लेश सहना, नियम व तौलसे भोजन करना इत्यादि यह तप है. शरीरका सुखना, क्लेश देनामात्र तप नहीं है, धातुकी विषमतासे योग नहीं हो सकता, क्योंकि धातुकी विषमतासे रोग आदि होनेमें चित्त एकाग्र नहीं होता. योग एकाग्र चित्तमें ही होता है, इससे तप आदि उपाय हैं, जिससे रोग विघ्नोंका निवारण व योगका साधन होता है. प्रणव अर्थात् ॐ वा अन्य जो पवित्र ईश्वरके नाम हैं उनका जप वा मोक्षशास्त्रका अध्ययन स्वाध्याय है, ईश्वरमें चित्त लगाना, सब क्रियाओंका ईश्वरमें समर्पण करना, कर्मके फलकी इच्छा न करना ईश्वरप्रणिधान है ॥ १ ॥

अब क्रियायोगसे क्या प्रयोजन है ? वह वर्णन करते हैं:--

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥ २ ॥

समाधिकी भावनाके अर्थ व क्लेश क्षीण करनेके अर्थ ॥ २ ॥

दो०--क्रियायोग पूरण भये, सिद्धी होत समाधि ।
क्लेशहु सूक्षम होत सब, सहज मिटत जगव्याधि ॥ २ ॥

क्रियायोगसे समाधि प्राप्त होती है व सब क्लेश क्षीण होते हैं. इस लिये तपस्स्वाध्याय ईश्वरप्रणिधानरूप क्रिया योग करना चाहिये ॥ २ ॥

अब जिन क्लेशोंकी निवृत्तिके लिये क्रियायोग करनेका प्रयोजन है वे वर्णन किये जाते हैं:-

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पंच क्लेशाः॥३॥

अविद्या अस्मिता राग द्वेष अभिनिवेश ये पांच क्लेश हैं ॥३॥

दो०-अविद्याऽस्मिता राग अरु, द्वेष महाबलवान।
अभिनिवेश मिल पांचहूं, क्लेश सकल दुखखान ॥ ३ ॥

अविद्या आदि पांच विपर्यय हैं. ये कर्मबन्धनको दृढ करते हैं. परिणामको स्थापन करते हैं. कर्म विपाक (कर्मफल) जाति आयु भोगरूप क्लेशके कारण होते हैं, परन्तु सब क्लेशोंकी मूलकारण अविद्या है. अविद्याके नाश होनेसे अस्मिता राग द्वेष आदि सब नष्ट होजाते हैं ॥ ३ ॥

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥४॥

प्रसुप्त तनु विच्छिन्न उदाररूप उत्तरवालोंका क्षेत्र अविद्या है ॥ ४ ॥

दो०-एक अविद्या छांडिकर, अस्मितादि जो चार।
तिनके भेद प्रसुप्ततनु, और विछिन्न उदार ॥
सो०-सब क्लेशनकी मूल, एक अविद्या जानिये।
उपजावत सब शूल, क्षेत्रनुरूप स्वरूप धरि ॥ ४ ॥

पूर्वसूत्रमें अविद्या आदि पांच क्लेश वर्णन किये हैं. प्रथम अविद्या उसके पश्चात् अस्मिता राग द्वेष अभिनिवेश. उत्तर नाम पश्चात्का है. इससे उत्तरवालोंसे अभिप्राय अस्मिता राग द्वेष अभिनिवेशसे है. ये जो अविद्याके उत्तर अस्मिता राग

पश्चेति नास्ति विज्ञान भिक्षुमते।

द्वेष अभिनिवेश है इन सबका क्षेत्र अर्थात् उत्पत्तिभूमि अविद्या है. अविद्या कारण है, ये सब कार्य हैं. अस्मिता आदि ऐसे हैं कि प्रसुप्त-तनु विच्छिन्न व उदार हैं अर्थात् प्रसुप्ततनु विच्छिन्न व उदार भेदसे वर्तमान रहते हैं, जो योगी प्रकृतिमें विवेक रहित लय होते हैं उनके क्लेश प्रसुप्त (सोये हुएके समान) रहते हैं. उनके बीजका नाश विना ब्रह्मज्ञानके योगसे नहीं होता. जैसे सुषुप्त अवस्थामें इन्द्रिय व अर्थ सबका लय रहता है ज्ञानशक्तिमात्र चेतनमें स्थित रहती है. जागनेपर फिर सब इन्द्रियोंसे विषयोंका ग्रहण होता है, इसी प्रकारसे प्रकृतिमें लय हुए योगियोंके क्लेश चित्तमें प्रसुप्त रहते हैं. जब उनका अवधिकाल आता है तब फिर प्रकट व प्रवृत्त होते हैं क्रियायोगमें विरुद्धपक्षके सेवनसे अर्थात् तप आदिके धारण करने व भावनासे क्लेश तनु (क्षीण निर्बल) होते हैं अर्थात् क्रियायोग करनेवाले योगियोंके क्लेश क्षीण होते हैं परन्तु सर्वथा उनका नाश नहीं होता और विषयी पुरुषोंके क्लेश विच्छिन्न व उदार होते हैं. यथा–जिस समयमें राग होता है उस समयमें राग उदार व क्रोध क्षीण होता है, जब क्रोध उदार होता है तब राग विच्छिन्न अर्थात् क्षीण होता है अर्थात् जिसमें प्रीति होती है उसमें प्रीति होनेके समयमें क्रोध नहीं होता. जिसमें क्रोध होता है उसमें प्रीति नहीं होती, कहीं कुछ क्रोध व कुछ प्रीति दोनोंका मेल रहता है इस तरह विषयी पुरुषोंके विच्छिन्न उदार रूप क्लेश होते हैं, क्योंकि जिस सांसारिक पदार्थमें राग होता है व उसमें सुख बोध होता है उसमें भी विकार व हानि होनेसे अंतमें दुःख होता है व जिसमें द्वेष (वैर या विरुद्ध बुद्धि होना) होता है उसमें वर्तमानमें दुःख विदित होता है. इस तरह चार प्रकारसे अस्मिता आदिकोंकी स्थिति होती है. जिस मुक्ति अवस्थामें विवेक व ज्ञानसे इन सबका नाश होता है वह अवस्था इनसे भिन्न है ॥ ४ ॥

अब अविद्या आदि प्रत्येकके लक्षण पृथक् पृथक्
वर्णन करते हैं:—

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥ ५ ॥

अनित्य अशुचि दुःख व अनात्मामें नित्य शुचि सुख आत्मा होनेकी बुद्धि अविद्या है ॥ ५ ॥

दो०--अनितमें नित माने है, और अशुचिमें शुचि जान।
दुःखहूमें सुख मानता, देह आत्मा ज्ञान॥
होत विपर्यय ज्ञान इमि, तबहि अविद्या आय।
करत रहत उत्पात नित, बिन वैराग्य न जाय॥ ५॥

अनित्य आदिमें नित्य आदि वर्णन करनेके क्रमानुसार सूत्रका अर्थ व भाव यह है कि—क्रमसे अनित्यमें नित्य, अशुचिमें शुचि, दुःखमें सुख और अनात्मा देहमें आत्माका मानना अविद्या है, ख्याति शब्द जो सूत्रमें है उसका अर्थ कथन है परन्तु यहां अभिप्राय माननेसे है क्योंकि जैसा माना जाता है वा बोध होता है वही कहा जाता है इससे बुद्धि अर्थ रक्खा गया है, अनित्य देवता सूर्य आदिको नित्य मानकर उपासना अथवा स्वर्गलोकके सुखको नित्य जानकर उसकी प्राप्तिके लिये साधन उपाय करना यह अनित्यमें नित्य ख्याति है. आदि उत्पत्ति स्थानसे शरीरमें यह विचार करनेसे कि, प्रथम माताके उदरमें मूत्रसंयुक्त स्थानमें माताके रुधिर व पिताके वीर्यसे उत्पन्न होता है व वर्तमानमें मल पसीना कफ मूत्र विष्ठाका स्थान है महा अशुचि व निषिद्ध बोध होता है, ऐसे अशुचि शरीरमें ऊपरके मल जलसे धोये हुए सुगन्ध लगाये अलंकारवती कामिनीको देखकर यह मानना कि यह चंद्रमा ऐसी अमृतके, समान है स्वाद जिसके

अंगस्पर्शमें नील कमलके पत्र ऐसे हैं नेत्र जिसके, हाव भाव कटाक्ष युक्त ऐसी कामिनीके संग बडा सुख है, इसी तरह पुरुषमें स्त्रीका मोहित होना भी जानना चाहिये. यह अशुचिमें शुचि ख्याति है, इसीके अन्तर्गत अपुण्यमें पुण्य तथा दुःखमें सुख माननेके अन्तर्गत अनर्थमें अर्थ जान लेना चाहिये, दुःखमें सुख मानना यह है कि विचारनेसे जो संसारमें सुख है वह सब दुःखरूप है, क्योंकि जो वर्तमानमें सुख बोध होता है वह परिणाममें ताप व संस्कार दुःख या गुणवृत्तियोंके विरोधसे विवेक करनेवालोंको सब दुःखही विदित होता है. इसका वर्णन विस्तारसे आगे किया जायगा, ऐसा संसारिक दुःख-रूप विषयमें सुख जानना दुःखमें सुखख्याति है, शरीरको या मनको चेतन मानना कि, शरीर व इन्द्रियहीके संयोग विशेषसे चेतनता रहती है. संयोगमें विकार होनेसे शरीर अचेतन हो जाताहै, शरीरसे भिन्न आत्माका मानना मिथ्या कल्पना है. अनात्मामें आत्मा ख्याति है. इन भेदोंसे अविद्या चार प्रकारसे होती है, विद्याके न होनेको अविद्या कहते हैं, परन्तु अविद्या कहनेसे विद्याका सर्वथा अभाव न समझना चाहिये केवल विद्याके विपरीत या सत्यज्ञानसे भिन्न भ्रमयुक्त जानना चाहिये क्योंकि जो विद्याका अभाव माना जाय तो आत्मामें विद्या वा सत्य ज्ञानका होना ही असंभव होगा ॥ ५ ॥

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ॥ ६ ॥

दृग्दर्शन शक्तियोंकी एकात्मता (एकही आत्मा जानना) यही अस्मिता है ॥ ६ ॥

दो०--एक और दर्शन शक्तिको, एक भाव जब होय।
तबही अस्मिता जानिये, देव महादुख सोय ॥

एक शक्ति है पुरुषकी, दर्शन बुद्धी जोई ।

एक आत्म जब होत दोउ, जान अस्मिता सोई ॥ ६ ॥

दृक्शक्ति व दर्शनशक्ति इन दोनों शक्तियोंकी एकात्मता अर्थात् एकही स्वरूप जाननेको अस्मिता कहते हैं, यह महा दुःखदायी है, दृक्शक्ति पुरुष है व दर्शनशक्ति बुद्धि है; भ्रम हो जानेके कारण बुद्धि सुख दुःख व पापकर्म आदि धारण करनेका व भोग्य अर्थका कारण है. व आत्मा नित्य सुखी बंधरहित है. परन्तु इन दोनोंकी एकात्मता भासित होना अर्थात् एकही होनेके समान मानकर आत्माको यह मानना कि 'मैं पापी हूँ, मैं दुःखी हूँ' अज्ञानवश ऐसा बोध होना अस्मिता है. भोक्ता शक्ति पुरुष व भोग्यशक्ति बुद्धि है; आत्मा शुद्ध चेतन है, बुद्धि जड भ्रमवश अशुद्ध है, इससे दोनों भिन्न आत्मा हैं, इन दोनोंको एक आत्मा जानना अस्मिता है ॥ ६ ॥

सुखानुशयी रागः ॥ ७ ॥

सुखकी अभिलाषाका नाम राग है ॥ ७ ॥

दो०—सुख अभिलाषा राग है, तामें चित वस जाय ।

तब सुखहित नाना करम, धर्म अधर्म कराय ॥ ७ ॥

जो जो सुख पूर्वकालमें प्राप्त हो चुके हैं व जिस जिस पदार्थमें यह ज्ञान हुआ है कि, इससे सुख होता है अर्थात् यह सुखका साधन वा हेतु है. ऐसे सुख वा सुखसाधनपदार्थ जाने हुएको जो उस सुखके स्मरण होनेपर उस सुखके होनेमें तथा उस सुखसाधन पदार्थके या उसके सजातीय पदार्थके प्रत्यक्ष होनेपर सुख होनेके स्मरणसे उसमें तृष्णा वा लोभ होता है उसको राग कहते हैं. यह सूत्रका फलितार्थ है, शब्दार्थ नहीं, क्योंकि भाषामें शब्दार्थ अनुवाद करने योग्य शब्द नहीं मिले. जो यह संशय हो कि, जिस सुखका स्मरण

हुआ उस सुखमें जो राग होता है वह तो स्मृतिपूर्वक होता है, परन्तु प्रत्यक्ष सुख होनेमें जो राग होता है उसमें स्मृतिकी अपेक्षा नहीं होती. इसका उत्तर यह है कि, जिस पदार्थसे सुख होता है उसके प्रत्यक्ष होनेपर यह ज्ञान होनेसे कि, पूर्वमें इसी जाति वा प्रकारका पदार्थ सुखका हेतु वा सुखका देनेवाला हुआ था, इससे यह भी सुखका हेतु है; इस स्मृतिपूर्वक अनुमानसे उसकी इच्छा करता है इससे व न जाने हुएमें इच्छा तृष्णा वा प्रीति न होनेसे प्रत्यक्ष हुयेमें भी स्मृतिपूर्वक राग कहना युक्त है व जिस समयमें जिससे व जो सुख प्राप्त होरहा है उसमें तृष्णा वा इच्छा न होनेसे क्योंकि इच्छा अप्राप्तवस्तुमें होती है. राग होना नहीं कह सकते, इससे स्मृतिपूर्वक राग कहनेमें दोष नहीं है ॥ ७॥

दुःखानुशयी द्वेषः ॥ ८ ॥

दुःखकी अभिलाषाका नाम द्वेष है ॥ ८ ॥

दो०—दुखसाधनको देखकर, होत चित्तमें क्रोध ।
द्वेषरूप सो जानिये, रहत नहीं कछु बोध ॥ ८ ॥

जो जो दुःख व जिससे दुःख पूर्वकालमें प्राप्त हुआ है उसके अनुस्मृतिपूर्वक (स्मरण होनेपर) दुःखमें या उसके साधनमें जो क्रोध होता है उसको ‘ द्वेष ’ कहते हैं, क्रोधके वश हो जानेसे उस समय कुछ ज्ञान नहीं रहता है, (पूर्व सूत्रके समान इस सूत्रका भी फलितार्थ वा भावार्थ लिखागया है) ॥ ८ ॥

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥ ९ ॥

जो मरण त्रास स्वरसवाही अर्थात् पूर्वजन्मके अनेक बार मरनेके दुःखके अनुभवसे उत्पन्न वासनासे आपहीसे बहनेवाला अर्थात् होनेवाला अज्ञानी व विद्वान्को भी उसी प्रकारसे होता है वह अभिनिवेश है ॥ ९ ॥

दो०—विदुषनकोहू मरणभय, रहत मूर्खके तुल्य।
स्वाभाविकही जानिये, मरण त्रास बाहुल्य ॥ ९ ॥

सम्पूर्ण जीवोंको जो मरनेका त्रास (भय) है उसको अभिनिवेश कहते हैं. सब जीव सदा जीनेकी इच्छा करते हैं, मरनेसे डरते हैं, यह मरणत्रास जिस तरह मूर्खको है उसी तरह विद्वान्को भी है, जो यह संदेह होवे कि मूर्खमात्रको मरणत्रास होना यथार्थ है. विद्वान्को ज्ञानसे दूर हो जाना चाहिये, तो इस संदेह निवारणके लिये मरण त्रासको स्वरसवाही कहा है. स्वरसवाही होनेसे मूर्ख व विद्वान् दोनोंमें होता है. स्वरसवाही अर्थात् स्वाभाविक अनेक जन्मके मरण दुःखके अनुभवसे उत्पन्न हुए वासनासमूहसे वहनेवाला मरणत्रास प्रवाह है. यह जबतक असंप्रज्ञातसमाधिको प्राप्त हो जीव मोक्षको नहीं प्राप्त होता तबतक सब प्राणियोंको जैसे अति मूर्खको उसी तरह विद्वान्को मरनेका भय होता है. यह मरणत्रास अभिनिवेश क्लेश है. जो यह शंका हो कि मरणत्रास स्वरसवाही नहीं है, अर्थात् पूर्वजन्मके मरण दुःखके अनुभवसे स्वाभाविक अपने ही प्रभावसे नहीं बहता अर्थात् आप हीसे नहीं होता तो स्वाभाविक आपसे होनेके हेतुमें उत्तर यह है कि, यह प्रत्यक्षसे विदित होता है कि उत्पन्न जो बालक है जिसको वर्तमान कालमें सुनने समझनेसे कुछ ज्ञान नहीं है वह भयानक मारनेवाले पदार्थको देख वा जानकर भयको प्राप्त हो रोने वा कांपने लगता है तथा अज्ञान जन्तुओंमें मरणभय देखकर पूर्व मरण दुःखका स्मरण अनुमानसे सिद्ध होता है ऐसा भय होना असंभव नहीं है; अविद्या अस्मिता राग द्वेष अभिनिवेशको तम, मोह, महामोह, तामिस्र, अंधतामिस्र नामसे भी कहते हैं, प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गन्ध इन आठ अनात्माओंमें आत्मबुद्धि होनेको अविद्या वा तम कहते हैं. अणिमा,

महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व और वशित्व इन आठ ऐश्वर्यमें अहंभाव मानना कि, मैं छोटा हूं, मैं बडा हूं, मैं गुरु हूं, मैं हलका हूं. यह अस्मिता वा मोह है. इस मोहसे दिव्य व अदिव्य भेदसे शब्द आदि दश विषयमें प्रीति होनेको राग वा महामोह कहते हैं. इन दश विषयोंके भोग प्राप्त होनेमें जो विघ्न होते हैं उनमें द्वेष होनेको तामिस्र कहते हैं, अणिमा आदि आठ व शब्द आदि दश इन अठारह मनोरथोंके नाश होनेके भयको अभिनिवेश वा अन्धतामिस्र कहते हैं ॥ ९ ॥

अब यह जानना चाहिये कि, क्लेश स्थूल व सूक्ष्म होनेके भेदसे दो विधके होते हैं. क्रियायोगसे क्षीण हो सूक्ष्म होजाते हैं व विषयभोगमें स्थूल व प्रबल रहते हैं. पहले सूक्ष्म क्लेशोंके नाशक उपाय कहते हैं:–

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ॥ १० ॥

वे सूक्ष्म लय होनेसे त्यागके योग्य हैं ॥ १० ॥

दो०—क्रियायोगते होत हैं, पञ्चक्लेश अति छीन।
असम्प्रज्ञात समाधिवश, होत मूलते हीन ॥ १० ॥

ते अर्थात् पूर्वमें जे पांच क्लेश प्रसुप्ततनु विच्छिन्न उदार भेदसे वर्णन किये गये हैं वे विवेक (यथार्थ आत्मज्ञान व ब्रह्मज्ञान) रहित योग अभ्यास (क्रिया-योग-अभ्यास) करनेवाले योगियोंकेभी सर्वथा नष्ट नहीं होते. प्रकृतिमें लय हुए योगियोंमें शक्तिमात्र प्रसुप्त रूपसे जैसा पूर्वही कहा गया है बने रहते हैं फिर जब उनका अवधिकाल विशेष आता है तब फिर अपने २ विषयोंमें सम्मुख होते हैं और प्रकृति लीन न हुए योग अभ्यास करनेवाले योगियोंमें भी विरुद्ध पक्ष जो योग अभ्यास है उससे क्लेश क्षीण व निर्बल रहते हैं, परन्तु उनका नाश नहीं होता. ये जो क्लेश सूक्ष्म बीजरूप

बने रहते हैं, इनके त्याग होने वा नाश होनेका उपाय क्या है वह इस सूत्रमें वर्णन किया है कि, तेजस्सूक्ष्मरूप क्लेश हैं वे लय होनेसे अर्थात् चित्तके लय (नाश) होनेसे त्यागके योग्य हैं, अन्य उपाय नहीं है; चित्तके लय होनेमें चित्तके साथही सब क्लेशोंका नाश होजाता है. इसका अभिप्राय यह है कि, जब विवेक ख्यातिसे यथार्थ आत्मज्ञान होता है व अविद्याका अभाव होता है, तब चित्तका आत्मामें लय होता है चित्तके लय होनेमें जो क्लेश सूक्ष्म रूप बीजभावसे रहते हैं उनका भी अर्थात् सर्वथा क्लेशोंका नाश हो जाता है दुःखका लवलेशभी नहीं रहता और मोक्षके विशेष सुखको पाता है ॥ १० ॥

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥ ११ ॥

वे वृत्तियां ध्यानसे त्यागने योग्य हैं ॥ ११ ॥

दो०--क्रियायोगते सूक्ष्मकर, क्लेशवृत्ति हैं जोइ।
प्रसंख्यानके ध्यानसो, दग्धबीजसम होइ ॥ ११ ॥

वे वृत्तियां जो स्थूल सुख दुःख मोहात्मिका हैं वे ईश्वरके ध्यानसे (ध्यानद्वारा) त्यागने योग्य हैं जैसे लोकमें बहुत मैले वस्त्रको पहिले फींचकर धोते हैं फिर जब कुछ मैल कम होजाता है तब साबुन लगाकर यत्नसे धोते हैं और जो मैल वस्त्रके सूतके अन्तर्गत (भीतर) होगया है. उसका सर्वथा नाश वस्त्रके नाश होनेपर होता है. इसी तरह क्रियायोगसे अति सघन क्लेश विरल होते हैं अर्थात् बहुतसे कम होते हैं. फिर वे ध्यानसे क्षीण वा सूक्ष्म होते हैं व जब सूक्ष्म चित्तका नाश होता है तभी वे नाशको प्राप्त होते हैं अन्यथा नहीं होते ॥ ११ ॥

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ॥ १२ ॥

क्लेश हैं मूल जिसके ऐसा कर्माशय दृष्ट व अदृष्ट जन्मवेदनीय भेदसे दो प्रकारका होता है ॥ १२ ॥

दो०--आशय धर्म अधर्मको, क्लेशमूल तिहि जान।
इहामुत्रमें जन्मप्रद, दृष्टादृष्ट प्रमान ॥ १२ ॥

धर्म अधर्म पुण्यरूप पापरूप कर्मांशयसे काम क्रोध लोभ व मोह उत्पन्न होते हैं इनके विषय जब प्राप्त नहीं होते अथवा प्राप्त होनेपर नष्ट हो जाते हैं तबही महादुःखदायी क्लेश उत्पन्न होते हैं, इसलिये कर्मांशयको क्लेशोंका मूल जानना चाहिये. इसी प्रकारसे मोहादिक अर्थात् काम क्रोध लोभ मोह जितने हैं वे सब मोक्षके बंधन और दुःखके देनेवाले हैं, कर्मांशय पुण्य पापकी खान है. कर्मांशय दो प्रकारका होता है एक दृष्टजन्मवेदनीय व दूसरा अदृष्टजन्मवेदनीय दृष्टजन्मवेदनीय वह है—जो इसी वर्तमान जन्ममें जानने योग्य हो या जाना जाय, अदृष्टजन्म-वेदनीय वह है—जो जन्मान्तरमें जानने वा होनेके योग्य होवे, अत्यंत प्रवृत्त होनेसे मंत्र तप समाधिद्वारा ईश्वर देवता महर्षियोंके आराधनसे जो सिद्धि प्राप्त होती है वह शीघ्रही (तुरतही) फलको देती है, यह पुण्य कर्मांशय है और तपस्वी महात्माओंके अपकार अनादर करने आदिमें अत्यंत प्रवृत्त होनेसे पापरूप कर्मांशयसे जल्दी दण्ड फल मिलता है. यथा पुण्यकर्म ईश्वर आराधनसे ज्ञान सिद्धि विभूति वर्तमानही शरीरमें प्राप्त होती हैं व अधर्म आचरणसे क्लेश ग्लानि रोग निरादर वर्तमानही शरीरमें प्राप्त होते हैं, यह धर्माधर्म पुण्य अपुण्यरूप कर्मांशय दृष्टजन्मवेदनीय है, अथवा यह भी दृष्टांत होसकता है कि, जैसे पुण्य-कर्मसे नन्दीश्वरने अत्यंत मंत्र तप समाधिद्वारा ईश्वर आराधनसे वर्त-मानही शरीरमें देवता होकर दीर्घायु (बडी उमर) को प्राप्त हो दिव्य भोग को लाभ किया तथा पापकर्मांशयसे अपराध करनेसे महर्षिके शापसे राजा नहुष सर्पयोनिको प्राप्त हुआ यह दृष्टजन्मवेदनीय है, और अदृष्ट-

जन्मवेदनीय यह है कि, यथा धर्मसे स्वर्ग व अधर्मसे नरक शरीरके नाश होनेके अनन्तर होना आप्तवाक्यसे जाना जाता है ॥ १२ ॥

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥ १३ ॥

मूल होनेमें अर्थात् मूलरूप क्लेशोंके होनेमें उसका (कर्माशयका) फल जाति (जन्म) आयु (उमर) व भोग होता है ॥ १३ ॥

दो०--क्लेशमूल धर्माधरम, तिहि विपाक फल तीन।
जाति आयु औ भोगकर, जानहि परम प्रवीन ॥ १३ ॥

क्लेश मूल होनेमें कहनेसे अभिप्राय यह है कि, क्लेशोंके मूल होने अर्थात् आदिमें कारण होनेके अनन्तर क्लेश या क्लेशोंसे उत्पन्न जो कर्माशय होता है उसका फल जन्म आयु व भोगरूप होता है,क्लेशमूलरहित कर्माशय फलका आरंभक (उत्पन्न करनेवाला) नहीं होता, जैसे जो अग्निसे दग्ध नहीं होता वह छिलका सहित धान जमता है और जो छिलकारहित अथवा दग्ध आगसे भुँजा हुआ हो जाता है तो वह नहीं जमता. इसी तरह क्लेशमूल कर्माशय जिसका संस्कारबीज असंप्रज्ञात समाधि व ज्ञानअग्निसे दग्ध नहीं हुआ वही जाति (जन्म) आयु व भोगरूप विपाकका कारण होताहै, जातिसे देवता मनुष्य तिर्यक् आदि उत्कृष्टनिकृष्ट योनियां होनेसे व आयुसे नियत न्यून अधिक कालतक देह व प्राणके संयोग रहनेसे व भोगसे इन्द्रियोंसे (इन्द्रियोंके द्वारा) विषय लाभ करने व दुःख सुख प्राप्त होनेसे अभिप्राय है,ये ही कर्माशयके फल । अब यह विचार किया जाता है, कि एक कर्म एक जन्मका कारण होता है या एक कर्म अनेक जन्मोंका कारण होता है, अथवा अनेक कर्म एक जन्मके कारण होते

हैं, अर्थात् जन्मको प्राप्त कराते हैं ? विचारनेसे एक कर्म एक जन्मका कारण होना संभव नहीं होता क्योंकि अनादिकालसे पूर्व जन्मोंमें किये गये कर्मोंमेंसे जो कर्म शेष (बाकी) रहे हैं और वर्तमान कर्म जो हैं इनके फलके क्रमके नियमका अभाव सिद्ध होनेसे यह सत्य होना अंगीकार नहीं हो सकता तथा एक कर्म अनेक जन्मोंका कारण मानना यथार्थ नहीं है क्योंकि, जो एक एक कर्म अनेक जन्मोंके कारण माने जावेंगे तो बाकी रहे हुए कर्मोंके फल प्राप्त होनेके लिये कोई काल नहीं हो सकता अर्थात् कोई समय नहीं मिल सकता और एक या अनेक कर्मोंका अनेक जन्मोंका कारण होना असंभव है, क्योंकि अनेक जन्म एक साथ नहीं होते, इससे एकही साथ अनेक जन्मका कारण होना माननेके योग्य नहीं है. इस तरह विचारके अनन्तर निर्णयसे यह सिद्ध होता है कि, जन्मसे लेकर मरणतकके कालमें किये हुए पाप पुण्य कर्मसमूह कर्माशय विचित्र फलरूपसे अर्थात् कोई कर्म जल्दी फल करनेवाले कोई विलंबसे फल करनेवाले व कोई दीर्घकालमें फल करनेवालोंसे संस्कार स्थित होता है, इस पापपुण्य कर्माशयकी अवस्थामें जब शरीरका त्याग होता है तब संपूर्ण मरणकालतकके जो कर्म हैं एक साथ मिलकर एक जन्मविशेषको करते हैं, अर्थात् संपूर्ण मरण समयतकके कर्मोंसे कोई जन्म विशेष होता है । उस जन्ममें पूर्वजन्मकृत कर्मोंका भोग होता है, इसी तरह मुक्त होनेतक कर्म जन्मभोग संस्कार बना रहता ह । और यह कर्माशय जन्म आयु भोग तीन प्रकारका फल देता है, इससे इसको त्रिविपाक कहते हैं व एक जन्म भोगके हेतु होनेसे एकभविक नामसेभी कहा जाता है. इस त्रिविपाकके दो भेद हैं; एक नियतविपाक व द्वितीय अनियतविपाक, दोनोंसे केवल नियत विपाक दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशयके एकभविक होनेका नियम है

अर्थात् जिस कर्माशयका फल नियत है वही त्रिविपाकरूप एकभविक होता है। किसी जन्म विशेष आदि फलका कारण होता है। अनियत विपाक अदृष्टजन्मवेदनीय त्रिविपाकरूप एकभविक नहीं होता. अनियतविपाककी तीन तरहकी गति होती है. एक यह है, कि जो कृत पाप विशेष नहीं है अर्थात् न्यून है उसका पुण्यकर्मविशेषसे नाश होजाता है. जैसा श्रुतिमें कहा है, कि अति शुक्लकर्मसे अर्थात् पुण्यकर्मसे कृष्णकर्म (पापकर्म) का नाश होता है, श्रुति यह है-" द्वे द्वे ह वै कर्मणी वेदितव्ये पापकस्यैको राशिः पुण्यकृतोऽपहन्ति तदिच्छस्व कर्माणि सुकृतानि कर्तुमिहैव कर्म कवयो वेदयन्ते" । अर्थ-पापी पुरुषके दो प्रकारके अर्थात् कृष्ण शुक्ल कर्म होते हैं, उन पापी पुरुषोंके कर्मोंको पुण्यकृत् राशि अर्थात् पुण्यसमूह नाश करता है, तिससे पुण्य कर्मोंको करनेकी इच्छा करो. इस संसारमें विद्वान् जन सुकृतहीको कर्म व उत्तम जानते हैं कर्म तीन प्रकारका कहा गया है कृष्ण (पाप) व कृष्ण शुक्ल (पाप व पुण्य मिला हुआ) व शुक्ल (केवल पुण्य). इससे कहा है कि, कृष्ण (पाप) व कृष्ण शुक्ल (पापपुण्य) केवल पुण्यसमूहसे नाशको प्राप्त होते हैं. दूसरा यह है कि, प्रधान (मुख्य) पुण्यकर्ममें जो न्यून पाप कर्म कुछ मिल जाता है वह प्रायश्चित्त (परिहार) से नष्ट होसकता है व प्रधान पुण्य कर्मको या उसके फलको बाधा नहीं कर सकता । तीसरा यह है कि, नियत विपाक (नियत फलदायक प्रधान कर्म) से तिरस्कारको प्राप्त जो नष्ट भी नहीं होता बीजमात्र बहुत कालतक बना रहता है वह प्रधान कर्मके विपरीत अपना कुछ फल नहीं कर सकता, जब अन्य निमित्तकी सहायता अपने अनुकूल पाता है तब फल करता है. इससे अर्थात् अनियत विपाकके न्यून होनेसे व पुण्यकर्मके उदयसे नष्ट होजानेसे अथवा प्रधान कर्ममें मिलजानेमें कुछ अपना फल न कर सकने व

प्रायश्चित्तके योग्य होनेसे अथवा नियतविपाक प्रधान कर्मसे तिरस्कारको प्राप्त बीजमात्र बहुत कालतक रहनेसे अनियतविपाक अदृष्टजन्मवेदनीयके एकभविक होनेका निषेध किया है व केवल नियत विपाक दृष्टजन्म वेदनीयके एकभविक होनेका नियम कहा है, इस प्रकारसे कर्म गति विचित्र व दुर्विज्ञेय (कठिनतासे जाननेके योग्य) वर्णन की गई है ॥ १३ ॥

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ॥ १४ ॥

ते पुण्य वा पापहेतुक होनेसे आनन्द व दुःखफलवाले हैं १४

दो०—जाति आयु अौ भोगचय, देत हर्ष परताप ।
पुण्य हर्षप्रद जानिये, पाप महादुखदाय ॥ १४ ॥

जो पूर्वसूत्रमें वर्णन किये जाति आयु व भोग हैं वे जो पुण्य हेतुसे हैं अथवा होते हैं वे सुख फलवाले हैं वा होते हैं और जो पाप कर्म हेतुसे (कारणसे) हैं या होते हैं वे दुःखफलवाले हैं वा होते हैं ॥ १४ ॥

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च

दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥ १५ ॥

परिणाम ताप व संस्कार दुःखोंसे व गुणवृत्तियोंके विरोधसे विवेकियोंको सब दुःख ही है ॥ १५ ॥

दो०—विषयनमें सुख लसैं, दुःखरूप सब जान ।
परिणामताप जिहि सुखमें, ताहि दुःखकर मान ॥
मूढनको तो विषय सब, सुखसमान कर भास ।
ज्ञानीजनको जगत सुख, दुखसम करत प्रकास ॥ १५ ॥

पूर्वमें स्थूल सूक्ष्म क्लेश वृत्तियोंको हेय (त्यागनेयोग्य) वर्णन किया है. अब यह संदेह होता है कि, जो पापहेतुक हैं

जिनका फल दुःख है उनको हेय कहना उचित है, परन्तु जो पुण्यहेतुक हैं जिनका फल सुखभोग है उनको क्यों हेय अर्थात् त्यागने योग्य कहा है ? यह न कहना चाहिये, इस संदेह निवारणके लिये इस सूत्रमें यह कहा है कि, विवेकियोंको जिस विषयसुखको विषयी अज्ञानी पुरुष सुख समझते हैं वह सुख भी विचारनेसे दुःख ही बोध होता है अर्थात् जितना विषय भोग सुख है वह ऐसा नहीं है कि, विचारसे दुःख रूप विदित न होवे, इससे दुःखही है, सुख मानना भ्रममात्र है. क्यों दुःख है ? यह जाननेके लिये सूत्रमें यह वर्णन किया है कि, परिणामताप व संस्कार दुःखोंसे अर्थात् परिणाम दुःख व ताप दुःख व संस्कार दुःखोंसे तथा गुण वृत्तियोंके विरोधसे दुःख होनेसे विवेककरनेवालोंको सम्पूर्ण सांसारिक सुख दुःखरूपही है. अब परिणाम आदि दुःखोंके जाननेके लिये सुख व दुःखके लक्षणपूर्वक प्रत्येकका पृथक् २ वर्णन किया जाता है. प्रथम यह जानना चाहिये कि, सुख (सांसारिक व विषयसुख) व दुःखके लक्षण क्या हैं ? लक्षण ये हैं कि, भोगोंमें तृप्ति होनेसे अर्थात् तृष्णाकी निवृत्ति होनेसे जो इन्द्रियोंका शान्त होना है वह सुख है व जिसके लिये तृष्णा है उसके प्राप्त न होनेसे अथवा प्राप्त प्रियपदार्थके नाश व वियोग होनेसे तथा जो हित नहीं है या जिसमें द्वेष है उसके प्राप्त होनेसे जो इन्द्रियोंमें अशान्तता व्याकुलता होती है वह दुःख है. अब परिणाम आदि दुःखोंके भेद ये हैं कि, रागसे जिस विषयभोगमें प्रवृत्ति होती है उसमें भोग होनेके समयमें जो सुख विदित होता है वह अन्तमें दुःख प्राप्त होनेका कारण होता है इससे विषयी पुरुषोंको अविद्या (अज्ञानता) से यद्यपि वह सुख प्रतीत होता है, परन्तु विवेकदृष्टिसे परिणाममें दुःखका मूल होना जानकर योगीजन सुख होनेके अवस्था वा समयमें भी इसको क्लेशही

जानते हैं, यह परिणामदुःख है. परिणामदुःखके उदाहरण ये हैं. यथा रागसे विषयकी इच्छा करते हुएको जिस क्षणमें वह विषय प्राप्त होता है व तृप्ति होती है व रहती है उसी क्षण वा समयमात्रमें सुखकी स्थिति रहती है, उसके निवृत्त होनेके अनन्तर फिर उसी विषय वा अन्य विषयके भोगमें तृष्णा होती है. भोगके अभ्याससे तृष्णाकी निवृत्ति नहीं होती, किन्तु तृष्णा अर्थात् रागकी वृद्धि होती है. रागके बढनेसे अनेक मनोरथ होते हैं. अनेक मनोरथ करते हुएका जो मनोरथ पूर्ण नहीं होता अर्थात् इष्टपदार्थ प्राप्त नहीं होता उसमें दुःख अवश्य होता है इस तरह विषयसुख व भोगका अभ्यास परिणाममें दुःखका हेतु (कारण) होता है और मुख्य अभिप्राय परिणाम दुःख होनेसे यह है कि, रागके बढनेसे मनोरथ पूर्ण होनेके लिये धर्म अधर्म कर्म करता है, उससे परिणाममें संसार बन्ध अर्थात् जन्ममरण दुःख भोग फल प्राप्त होता है अथवा जो विचाररहित अज्ञानसे इच्छानुसार अनुचित आचरण व विषयभोग करता है, यद्यपि, उसमें भोगसमयमें उसको सुख होता है, परन्तु अन्तमें वह दुःखका कारण होता है अर्थात् उससे व्याधि दण्ड आदि जन्य दुःख प्राप्त होता है. यह परिणाम दुःख है अथवा जिस विषयमें भोगसमयमें सुख विदित होता है व सुखका साधन है वह अन्तवान् है, उसके साथ ही नाश होनेका भय लगा है, नाशभयसें परिणाममें दुःखही है इत्यादि जो दुःखके साधन चेतन या अचेतन पदार्थ हैं अर्थात दुःख देनेवाले हैं उनसे जो क्लेश होता है अथवा जो उनके नाश करने वा पीडा देनेमें धर्म अधर्म कर्म लोभ मोहसे करता है और वह परिणाममें बन्ध व पीडाका कारण होता है. यह ताप दुःख है. यथा सुख भोग वा इच्छा विरुद्ध अहित पदार्थमें द्वेष होता है व उससे वर्तमानही समयमें ताप होता है व क्रोधसे उसके नाश करने व पीडा देने आदिमें मोहसे

अनुचित आचरण करता है व उससे परिणाममें क्लेश फल प्राप्त होता है यह तापदुःख है । पूर्व हुए सुख दुःखके स्मरणसे फिर किसी उस सुख या दुःख साधन पदार्थमें राग व द्वेषसे प्राप्त होने या नाश करनेके प्रयत्नमें जो पुण्य पाप कर्म कोई प्राणी करता है व उससे जन्ममरण सुख दुःखरूप कर्म फल जो तत्त्वदृष्टिसे केवल दुःख-रूप है प्राप्त होता है व इसी तरह जो संस्कारसे दुःखका सोता वा प्रवाह चलता है यह संस्कार दुःख है, ये दुःख योगी ही को जान पडते हैं. जैसे कोमल नेत्रमें ऊर्णतन्तु (ऊन) क्लेशसे विदित होता है अन्य कठोर अंगोंमें नहीं होता इसी प्रकारसे जिनके चित्त विचारकी कोम-लतासे रहित कठोर हैं ऐसे विषयासक्तोंको इन दुःखोंका ज्ञान नहीं होता. योगियोंको यह बोध होता है कि, सम्पूर्ण विषयभोग विष मिली हुई मिठाई है कि, खानेके समयमें अच्छा स्वाद जान पडता है, परन्तु पीछे दुःख व शरीरका नाश होना यह फल होता है. इसी तरह विषयभोग करनेके समयमें सुख होता है पर अन्तमें क्लेश हीं प्राप्त होता है. इन औपाधिक दुःखोंके वर्णन करनेके अनन्तर स्वाभा-विक दुःखोंको कहा है कि, गुणवृत्तियोंके विरोधसे दुःख होनेसे सब दुःख हैं. गुणवृत्तियोंके विरोधसे दुःख होना यह है कि, सत्त्व रज व तम ये गुण हैं व सुखात्मक व दुःखात्मक व मोहात्मक प्रत्यय बोध यह आरंभ करते हैं, यही इनकी वृत्तियां हैं, व धर्म वैराग्य ऐश्वर्य अज्ञान अधर्म अवैराग्य (राग) अनैश्वर्य व ज्ञान ये सत्त्व आदि गुणोंके रूपभेद हैं. इन गुणवृत्तियोंके परस्पर विरोध होनेसे दुःख होता है, क्योंकि गुणवृत्तियां चंचल हैं. चलायमान होनेसे चित्तकी प्रवृत्ति कहीं अधर्ममें होती है. फिर अधर्मसे विमुख हो धर्ममें होती है, ऐसे विरोधसे चित्त हीमें पश्चात्ताप ग्लानि आदिसे दुःख प्राप्त होता है तथा स्त्री, मित्र आदि जिसमें प्रीति होती है व जिसको सुख साधन

समझता हैं उसमें व अपने गुणवृत्तियोंमें विरोध होनेसे दुःख होता है, अथवा गुणवृत्तियोंके अनुसार जो मनोरथ है उसके विरुद्ध होनेमें दुःख होता है अथवा किसी अनुचित आचरणमें इच्छा होती है व दोष विचारनेसे संकोच तथा भय होनेके विरोधसे अभिलाषा पूर्ण न होनेमें दुःख होता है. इस तरह विवेक करनेवालोंको परिणाम आदि दुःखोंसे मिला हुआ सब सांसारिक सुख दुःखही है ऐसा बोध होता है, इससे सांसारिक विषयसुख त्यागने योग्य है. अब यह जानना चाहिये कि, जैसे चिकित्सा शास्त्रमें रोग व रोगहेतु (रोगका कारण) और आरोग्य व आरोग्यहेतु (आरोग्यका कारण) भैषज्यचतुष्टयका वर्णन है इसी प्रकारके इस शास्त्रमें हेय (त्यागने योग्य अर्थात् दुःख) हेयहेतु (दुःखका हेतु) मोक्ष व मोक्षके उपायका वर्णन है. दुःखमय संसार हेय है. माया व पुरुषका संयोग जो संसारका हेतु है वह हेयहेतु है, माया पुरुषके संयोगकी अत्यंत निवृत्ति होना अर्थात् दोनोंका अत्यंत वियोग होना मोक्ष है और ज्ञान मोक्षका उपाय है ॥ १५ ॥

अब हेय क्या है यह आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं:-

हेयं दुःखमनागतम् ॥ १६ ॥

आनेवाला दुःख हेय है ॥ १६ ॥

दो०-होनहार जो दुःख है, ताको करहि उपाइ ।
मूलनाश तिनको करहि, पुनि प्रकटै नहि आइ ॥ १६ ॥

जिस दुःखका भोग हो चुका वह व्यतीत होनेसे हेय नहीं हो सकता. जिसका भोग हो रहा है भोगसमयमें उसका भी त्याग नहीं हो सकता है, इससे जो आनेवाला दुःख है वही हेय (त्यागने योग्य) रहता है । उसका प्रथमसे मन लगाके

ऐसा यत्न करना चाहिये जिसके द्वारा दुःखोंको मूलनाश हो जाय और फिर अंकुरित न हो ॥ १६ ॥

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥ १७ ॥

द्रष्टा व दृश्यका संयोग हेयहेतु है ॥ १७ ॥

दो०-पुरुष और परधानको, जो संयोग विचार।
होत सकल अज्ञान वश, हेय हेतुको सार ॥ १७ ॥

द्रष्टा जो जाननेवाला चेतन पुरुष है व दृश्य जो ज्ञेय (जाननें योग्य) त्रिगुणात्मक प्रकृतिके कार्यभूत इन्द्रियरूप भोगके विषय हैं उनका संयोग हेयहेतु है अर्थात् दुःखका कारण है ॥ १७ ॥

अब दृश्यका जैसा रूप है वह कहा जाता है, उसको विचार करके हृदयमें धारण करनेसे संपूर्ण दुःख मिट जाते हैं इस लिये उसके लक्षण यहां वर्णन करते हैं:-

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥ १८ ॥

जो प्रकाशस्वभाव (ज्ञानस्वभाव) क्रियास्वभाव स्थितिस्वभावरूप अर्थात् सत्त्वगुण रजोगुण तमोगुण रूप भूत व इन्द्रियात्मक है और भोग व अपवर्ग (मोक्ष) के निमित्त है वह दृश्य है ॥ १८ ॥

दो०-सत्त्व रज तम दृश्य हैं, प्रकाश क्रिया थित जान।
भूतेन्द्रियकी आतमा, भोग मोच्छ हित मान ॥ १८ ॥

इस सूत्रमें प्रकाशशब्दका अर्थ बुद्धि वा ज्ञान है, वह शील शब्द जो संस्कृत सूत्र वाक्यमें है उसका अर्थ स्वभाव रक्खा गया है. सत्त्व गुणका स्वभाव प्रकाश व (बुद्धि) व रजोगुणका स्वभाव क्रिया है और प्रकाश व क्रिया दोनोंसे रहित होने अर्थात् अज्ञानता व जडताको

स्थिति कहते हैं. यह स्थिति तमोगुणका स्वभाव है, इससे सत्त्वगुणको प्रकाशस्वभाव, रजोगुणको क्रियास्वभाव और तमोगुणको स्थिति-स्वभाव नामसे महर्षि सूत्रकारने वर्णन किया है. सत्त्वगुणमें कोमलता व बुद्धिस्वभाव होनेसे तापकी प्राप्ति होती है. रजोगुण ताप करनेवाला है. इन दोनोंके तप्य व तापक होनेमें तमोगुणसे मोह होता है, जिससे पुरुष (आत्मा) यह मानता है कि, 'मैं तापमें हूं, मुझे यह ताप है' इत्यादि. ये तीनों गुण एक दूसरेके सम्बन्ध व सहायता-सहित अविवेकीको भोगने योग्य व विवेकीको त्यागने योग्य होते हैं. जब ये तीनों गुण विभागरहित समताको प्राप्त होते हैं, एक दूसरेमें भेद होनेका ज्ञान नहीं होता, उस समय या अवस्थामें ये प्रधान या प्रकृतिशब्दसे वाच्य होते हैं अर्थात् तीनों सम होनेकी अवस्थामें एक रूप होनेसे प्रधान या प्रकृतिशब्दसे एक नामसे कहे जाते हैं. ऐसा प्रकाश क्रिया और स्थिति स्वभाववाले तीनों गुणोंका समुदायरूप प्रधान जो कार्य्यरूपसे भूत व इन्द्रियात्मक हैं अर्थात् भूत जो पृथिवी, जल, तेज, वायु, व आकाश है और पांच ज्ञान इन्द्रिय व पांच कर्मेन्द्रिय ये दश बाह्य इन्द्रिय और बुद्धि अहंकार मन चित्त अन्तःकरण इन्द्रिय हैं इन भूत व इन्द्रियात्मक अर्थात् भूत व इन्द्रियोंके स्वरूपसे विद्यमान हैं और जो भोग व अपवर्गके निमित्त हैं अर्थात् रजोगुण तमोगुण मिश्रित सत्त्वगुण व रजोगुण व तमोगुणसे भोगके निमित्त और सत्त्वगुणमात्र ज्ञानरूपसे अपवर्ग (मोक्ष) के निमित्त हैं वे दृश्य हैं. बुद्धिही भोग व अपवर्गका कारण है, पुरुष दृश्य संयोगसे मोहमात्रमें अपनेको बंध व मोक्षमें मानता है. जो यह संदेह होवे कि, बन्ध व मोक्ष बुद्धिमें होता है. पुरुष क्यों मुक्त कहा जाता है ? इसका उत्तर यह है कि, यथा-राजाके सेवक

योद्धा युद्धमें जय व पराजयको प्राप्त होते हैं व नाम राजाका कहा जाता है तथा बुद्धिमें मोहविकारसे बन्ध व ज्ञानसे मोक्ष होनेमें पुरुषका बन्ध व मोक्ष कहा जाता है अर्थात् जब बुद्धि विकार जो रजोगुण तमोगुण कृत विषय हैं उनमें मोहित होती है तब पुरुष बद्ध कहा जाता है और जब केवल सतोगुणी ज्ञानका प्रकाश बुद्धिमें होता है तब पुरुष मुक्त कहा जाता है ॥ १८ ॥

अब गुणोंके परिणाम भेद वर्णन करते हैं:-

विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥ १९ ॥

विशेष अविशेष लिङ्गमात्र और अलिंग ये गुणके पर्व (परिणाम) हैं ॥ १९ ॥

दो०--विशेष और अविशेष पुनि, लिंग अलिंग सुचार ।
पूर्व कथित सब गुणनके, ते परिणाम विचार ॥ १९ ॥

गुण परिणाम भेदसे चार प्रकारके होते हैं-विशेष अविशेष, लिंगमात्र और अलिंग. अब इनका पृथक् २ व्याख्यान किया जाता है. पांच भूत व ग्यारह इन्द्रियोंकी सृष्टि क्रिया व्यापार व स्थूलकार्य्य-रूप पदार्थ होनेमें विशेषता है, इससे इनकी विशेष संज्ञा है अर्थात् आकाश, वायु, तेज, जल व पृथिवी ये पांच भूत; शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गन्ध इन पांच तन्मात्राओंके विशेष स्थूल कार्य्य हैं. इसी प्रकारसे पांच ज्ञानेन्द्रिय श्रोत्र (कान), त्वचा (चमडा), नेत्र, जिह्वा व नासिका और पांच कर्मेन्द्रिय वाक्, हस्त, पाद, गुद व लिंग ये दश बाह्य इन्द्रिय व ग्यारहवाँ अन्तर इन्द्रिय मन ये अस्मिता लक्षण रूप (अहंकार) के विशेष कार्य हैं इससे ये सोलह गुणोंके विशेष परिणाम हैं. अहंकार व पांच तन्मात्रा शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गन्ध ये छः अविशेष हैं. ये छः महत्तत्त्वके कार्य हैं. सत्तामात्र महत्तत्त्व हैं.

उस सूक्ष्मरूप महत्तत्त्वका कार्य अहंकार व अहंकारके कार्य शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध हैं. महत्तत्त्वके मुख्य होनेसे ये छहों महत्तत्त्वके परिणाम अविशेष नामसे कहे जाते हैं. इनकी अविशेष संज्ञा इससे है कि, सूक्ष्म रूप स्थूल पदार्थोंके कारण वा प्रकृति हैं. विकाररूप स्थूल होनेमें इनकी विशेषता नहीं है अथवा इन छःसे शांत घोर व मूढ होनेके लक्षण विशेष नहीं होते, इससे ये अविशेष व पूर्वोक्त सोलह गुण परिणामोंमें ये लक्षण विशेष होनेसे वे विशेष कहे जाते हैं. प्रधानके आद्य (सबसे पहिले हुआ) परिणाम महत्तत्त्वकी लिंगमात्र संज्ञा है. इसका विशेष व्याख्यान यह है कि, चेतन पुरुषके साथ प्रकृतिके संयोग होनेसे जो सबसे, प्रथम बुद्धिरूप परिणाम होता है उसको महत्तत्त्व कहते हैं. महत्तत्त्वही पुरुषार्थ क्रिया (पुरुषार्थ निमित्त क्रिया) में समर्थ होता है. जबतक महत्तत्त्वमें परिणाम नहीं होता तबतक प्रकृति पुरुषार्थक्रिया (सृष्टि रचना) में समर्थ नहीं होसकती। महत्तत्त्वके परिणाम वा विकार अविशेष व आविशेषोंके विकार विशेष क्रमसे सृष्टिकी उत्पत्तिमें होते हैं व लय होनेके समयमें इसी विरुद्ध क्रमसे अर्थात् कार्य वा विकाररूप परिणाम अपने अपने कारणोंमें लयको प्राप्त होकर क्रमसे महत्तत्त्वमें लीन होते हैं. महत्तत्त्वसहित फिर सब प्रकृतिमें लीन होते हैं. सूक्ष्मरूप प्रकृतिका केवल अस्तित्वमात्र अनुमानसे सिद्ध होता है; क्योंकि विना कुछ प्रकृतिरूप सत माननेके असतसे कुछ संभव नहीं है. परंतु उपादान होने मात्रसे प्रकृतिको कारणत्व माना जाता है. स्वाधीनतासे कार्य उत्पन्न करनेमें कारण नहीं है. पुरुषार्थक्रियामें महत्तत्त्वके समर्थ होने व कार्य्य (विकार) रूप परिणामोंमें सबसे प्रथम परिणाम व कार्य लिंग मात्र होने व उसके अनन्तर अन्य परिणामों (कार्यों) से वृद्धि क्रम होनेसे। महत्तत्त्वकी लिंगमात्र संज्ञा है.

प्रकृतिके सूक्ष्म सामग्रीरूप मात्रसे रहने व पुरुषके संयोगसे विना महत्तत्त्व परिणामके हुए किसी कार्यका कारण वा कार्य लिंग न होनेसे प्रकृतिकी अलिंग संज्ञा है अर्थात् प्रकृति अलिंग नामसे कही जाती है. वे गुणोंके पूर्व (परिणाम) अवस्थाके चार भेद हैं ये गुण सब प्रकृति (माया) के परिणाम हैं. पुरुष इनसे भिन्न है. सांख्यदर्शनमें प्रकृतिसे लेकर स्थूल भूतोंतक कारण व कार्य भेदसे चौबीस गुण वर्णन किये हैं व पचीसवाँ पुरुषको कहा है. पचीस गुणोंका विभाग यह–सत्त्व, रज व तम इन तीनों गुणोंकी साम्यावस्था अर्थात् तीनोंकी एक सम अवस्थाको प्रकृति कहते हैं. प्रकृतिको सृष्टिके उपादान कारण होनेसे मुख्य मानकर प्रधान व व्यक्त न होनेसे अव्यक्त नामसे भी कहते हैं. प्रकृतिसे महत्तत्त्व कार्य 'जैसा ऊपर वर्णन किया गया है' होता है, महत्तत्त्व (बुद्धि) का अनित्य व कार्य होना इस हेतुसे सिद्ध होता है कि पुरुषार्थ (पुरुषका अर्थ वा प्रयोजन अर्थात् भोग अथवा मोक्ष) के निमित्त कारण होनेसे उत्पन्न होकर नाशको प्राप्त होता है और अवस्थान्तरमें कभी उसके (महत्तत्त्वके) विषय गौ घट आदि ज्ञात होते हैं (जाने जाते हैं) कभी नहीं कारण मात्र व नित्यमें ऐसा होना संभव नहीं है. प्रकृतिरूप अलिंग अवस्थाका कोई कारण उत्पत्ति व विनाशका न होनेसे प्रकृति कार्यरूप नहीं है. कारणरूप नित्य है महत्तत्त्वसे अहंकार कार्य वा परिणाम होता है. अहंकारसे पांच तन्मात्रा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध और ग्यारह इन्द्रिय दश बाह्य इन्द्रिय अर्थात् पांच ज्ञानेन्द्रिय व पांच कर्मेन्द्रिय व ग्यारहवां अन्तर इन्द्रिय मन और पंच तन्मात्राओंसे पांच भूत आकाश, वायु, तेज, जल व पृथिवी कार्य होते हैं. क्रमसे चौबीस गुण ये व पचीसवां पुरुष सृष्टि उत्पत्ति व वृद्धिके कारण होते हैं. जिज्ञासुओंके समझनेके लिये

हैं. जिज्ञासुओंके समझनेके लिये यहां यह अधिक वर्णन कर दिया है ॥ १९ ॥

अब दृश्यका व्याख्यान करनेके अनन्तर आगे सूत्रमें द्रष्टाका वर्णन करते हैं:-

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥ २० ॥

द्रष्टा चेतन मात्र शुद्ध है तथापि बुद्धिहीके समान जाननेवाला वा देखनेवाला है ॥ २० ॥

दो०-दृशिधर्मनते रहित सो, द्रष्टा अतिहि विशुद्धि ।
तदपि होत प्रतिबिम्बित, मुकुरधर्म जो बुद्धि ॥ २० ॥

द्रष्टा (जाननेवाला अथवा देखनेवाला) पुरुष चेतनमात्र शुद्धबुद्धिसे भिन्न है. बुद्धि पुरुषका स्वरूप नहीं है; क्योंकि बुद्धिका विषय कभी ज्ञात होता है, कभी नहीं अर्थात् जिस विषयका बुद्धिसे निश्चय या ज्ञान एक समयमें होता है वह बना नहीं रहता, अन्य समयमें नहीं होता तथा सुख दुःख मोहात्मक अर्थोंको समयसमय वा क्षण-क्षणमें बुद्धि ग्रहण वा निश्चय करती है. ये सुख आदि तीनों गुणोंके परिणाम होनेसे बुद्धि त्रिगुणरूप है. इन हेतुओंसे बुद्धि अनित्य वा परिणामिनी है और पुरुषको संप्रज्ञात व व्युत्थान अवस्थाओं में सदा विषय ज्ञात होनेसे और पूर्वज्ञात पदार्थोंका स्मरण या उनकी पहिचान होनेसे पुरुष सदा ज्ञाता नित्य, परिणाम (स्वरूपमें भेद होना) रहित है, परन्तु यद्यपि चेतनता या ज्ञानशक्तिमात्र पुरुषमें होने व अन्य धर्म व विकाररहित होनेसे पुरुष चेतनमात्र शुद्ध स्वरूप है और बुद्धिसे भिन्न है तथापि अविवेकसे बुद्धिसे अपनेको पृथक् न मानकर बुद्धिके समान ही शब्द आदि विषयोंको जानता है और सुख दुःख मानता है ॥ २० ॥

तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ॥ २१ ॥

उसीके अर्थ (उसीके लिये) दृश्यका आत्मा स्वरूप है॥२१॥

दो०--पुरुष भोक्ता कि निमित्त, दृश्य भोगकर रूप ।
भोग करत है पुरुष सब, दृश्य भोग अनुरूप ॥ २१ ॥

उसी (पुरुष) के लिये दृश्यका आत्मा (स्वरूप) है अर्थात् पुरुष जो भोक्ता (भोग करनेवाला) है उसीके भोग के लिये दृश्य भोग्य (भोग करने योग्य) पदार्थ है ॥ २१ ॥

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्य-साधारणत्वात् ॥ २२ ॥

कृतार्थ प्रति नष्ट होनेपरभी वह अन्यप्रति साधारणत्वसे (साधारण होनेसे) नष्ट नहीं होता २२

दो०--दृश्य हेतु है भोगको, अरु अपवर्गहु जान ।
नष्ट दृश्य कृतार्थ जनते, दृश्य नष्ट नहिं मान ॥
ज्ञानीके दृशनाशते, दृश्य नाश नहिं होय ।
अज्ञानी जनके विषैं, बनो रहत है तोय ॥ २२ ॥

कृतार्थ जो मुक्त है उन प्रति दृश्यके नष्ट होनेपर भी वह दृश्य (प्रधान) अन्य प्रति अर्थात् जो कृतार्थ नहीं हैं उनके प्रति नष्ट नहीं होता. फलितार्थ इसका यह है कि, पुरुष अनेक हैं इससे जो मुक्त पुरुषका दृश्य संयोग नष्ट भी हो जाता है तो भी अन्य जो संसारी पुरुष हैं उसमें दृश्यका संयोग बनारहता है इससे दृश्य संयोगका नाश नहीं होता. क्यों नहीं होता ? साधारण होने या बने रहनेसे अर्थात् अविद्यासें जो पुरुष व दृश्य (प्रधान वा माया) का संयोग है उसके साधारण बनें रहनेसे; क्योंकि विना तत्त्वज्ञान जो उसके नाशका कारण है वह साधारणरूपसे बना रहता है. केवल कृतार्थ पुरुषों प्रति तत्त्वज्ञान होनेसे नाशको प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ॥ २३ ॥

अपने व स्वामी दोनोंकी शक्तियोंके स्वरूपोंकी उपलब्धि (प्राप्ति) का हेतु संयोग है ॥ २३ ॥

दो०--बुद्धीको अरु पुरुषको, जो अनादि संयोग ।
अज्ञानीको भोग प्रद, मोक्षज्ञानके योग ॥
अज्ञानी वश दृश्यके, भूलत अपनो रूप ।
भोगत जगके भोग सब, परे रहत भवकूप ॥
ज्ञानी अपने ज्ञानसों, भोग त्यागि निज रूप ।
पहिचानत निज रूपको, पावत मोचस्वरूप ॥ २३ ॥

दृश्य (प्रधान) की अपनी शक्ति जो जडतासे भोग्य मात्र होनेकी योग्यता है व स्वामी (पुरुष) की शक्ति जो चेतनतासे भोक्ता (भोग करनेवाला) होनेकी योग्यता है इन दोनोंके स्वरूपोंकी प्राप्तिका हेतु (कारण) संयोग है; क्योंकि जबतक पुरुष व प्रधानका संयोग नहीं होता तबतक पुरुष भोक्ता व प्रधान भोग्य नहीं होसकता, पुरुष प्रधान (प्रकृति) के साथ भोगके लिये संयुक्त होकर भोग करता है. इससे संयोगही पुरुषके भोक्ता व प्रधानके भोग्यका हेतु है. सारांश इतना ही जानकर सरल व संक्षेप वर्णन किया है. अन्य टीकाकारोंने शब्दार्थमें कुछ अधिक कल्पना करके अधिक व्याख्यान किया है; परन्तु यहां उसके वर्णनकी आवश्यकता व उससे विशेष फल न समझकर छोडदिया है. क्योंकि सूत्रकारने आपही वह सब आगे सूत्रमें वर्णन करादिया है ॥ २३ ॥

तस्य हेतुरविद्या ॥ २४ ॥

उसका हेतु अविद्या है ॥ २४ ॥

दोहा०—दृश्य पुरुष संयोग कर, हेतु अविद्या जान।
ज्ञान प्राप्तिते होत है, संयोग विहान ॥ २४ ॥

उसका (संयोगका) हेतु (कारण) अविद्या अर्थात् मिथ्याज्ञान है. विपर्यय (विपरीत) ज्ञान अर्थात् अनित्यको नित्य अशुचिको शुचि, दुःखको सुख और अनात्माको आत्मा जानना मिथ्याज्ञान व अविद्या है. अविद्याकी वासना सहित चित्तप्रलयमें प्रधानमें लीन होकर उत्पत्तिकालमें फिर प्रत्येक पुरुषमें सत्त्वगुणसे उत्पन्न होता है. विना चित्तके लय हुएपर मोक्ष नहीं होता. फिर संसारमें पतित होता है व चित्तपर वैराग्यसे लय होता है. जबतक अविद्यासे राग आदिका संस्कार बना रहता है तबतक संसारबन्ध नहीं छूटता, संयोगसे अविवेकीको बन्ध व विवेकीको मोक्ष प्राप्त होता है ॥ २४ ॥

तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् ॥२५॥

उसके (अविद्याके) अभावसेसंयोगका अभाव होना (दुःखनाश) , वही चेतनपुरुष का मोक्ष है ॥ २५ ॥

दो०—पुनि अज्ञान अभावते, हान होत संयोग।
हानि ताहि पहिचानिये, केवल आत्मसुभोग ॥ २५ ॥

यद्यपि पुरुष आत्मा अपने निज स्वरूपसे मुक्त व विकाररहित है, परंतु अविद्या (मिथ्याज्ञान) से दृश्यके संयोग होनेसे बन्ध व दुःखको प्राप्त होता है. अविद्याके अभाव होनेसे उससे हुआ जो संयोग है उसका अभाव (नाश) होता है, यही हान अर्थात् दुःखका नाश है; क्योंकि दृश्यका संयोगही दुःखरूप है. जब पुरुष प्रधान वा दृश्यसे भिन्न होजाता है तब भोगरहित हो जाता है और जबतक संयुक्त रहता है तबतक भोगमें व उसके फलमें परिणाम ताप आदि उक्त दुःखोंसे दुःखही होता है, दुःखका नाश होनाही पुरुषका कैवल्य संज्ञक मोक्ष है ॥ २५ ॥

अब दुःख तथा सर्वथा संयोगको हेतु व हेतुमत्को अभेद मानकर हेय (त्यागने योग्य) अविद्याको हेयहेतु और संयोगके अभावको ज्ञान वर्णन करनेके अनन्तर हानके उपायको आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं:-

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥ २६ ॥

मिथ्याज्ञानरहित विवेकख्याति हानका उपाय है ॥ २६ ॥

दो०-ज्ञानविपर्ययरहित जो, हुइ विवेक निज रूप।
हानयत्न मुनिवर कहत, मानहु ज्ञान स्वरूप ॥ २६ ॥

पुरुष जो प्रधानके कार्यरूप परिणामिनी अनित्य बुद्धिको, जो अपनेसे भिन्न है उसको अपना आत्मा (स्वरूप) मानता है और बुद्धिमें प्राप्त हुए सुख दुःखमें यह मानता है कि ' मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूं' यह मिथ्या ज्ञान है. इसके विरुद्ध पुरुष (आत्मा) का सत्यज्ञानसे यह निर्णय करना कि, मैं बुद्धि व दृश्य पदार्थसे भिन्न हूं ' यह विवेकख्याति है, मिथ्याज्ञान रहित जो ऐसी विवेकख्याति है उससे पर वैराग्यपूर्वक चित्तकी वृत्तियोंका निरोध होता है और क्लेश निवृत्त होते हैं. इससे मिथ्याज्ञानरहित विवेक हानका (दुःखके नाश होनेका) उपाय है. सम्पूर्ण दुःखोंसे छूटनाही मोक्ष है. इससे यही मोक्षके प्राप्त होनेका उपाय है. पुरुषका बुद्धिसे भिन्न होना व बुद्धिसे रहित होना जो इस शास्त्रमें कहा है. इसमें जो यह संदेह होवे या जो यह संदेह करते हैं कि. बुद्धि ज्ञानही है, बुद्धि रहित पुरुषके माननेमें पुरुषको अचेतन मानना होगा. बुद्धिरहित पुरुष कैसे होसकता है ? इसका उत्तर यह है कि, कार्यरूप परिणामिनी बुद्धि अर्थात् जो त्रिगुणात्मिका भोग व विवेकरूप परिणामित (परिणामको प्राप्त) बुद्धि है उससे रहित होना कहा है. उसके निवृत्त होनेसे मोक्ष होता है;

क्योंकि रजोगुणसे भोगमें प्रीति, तमोगुणसे मोह व सत्त्वगुणसे विवेकरूप बुद्धि होती है. इस विवेकरूपहीको दर्शन व ज्ञान नामसे कहते हैं व यही मोक्षका हेतु होती है और इसके अभावरूप रजोगुण तमोगुणात्मिका बुद्धि (बोध) को अदर्शन वा मिथ्याज्ञान कहते हैं. यह दुःख व बन्धका हेतु होती है, इस त्रिगुणात्मक बोधको बुद्धि वा प्रत्यय शब्दसे कहा है और जो पुरुषकी नित्य ज्ञानशक्ति है उस ज्ञानशक्तिस्वरूप बुद्धिकी निवृत्ति होनेको नहीं कहा. यह मोक्षमें भी बनी रहती है, इससे पुरुषको मोक्षसुखके ज्ञान होने व पुरुषके चेतन होनेमें दोष नहीं आता, केवल शब्दके नियत अर्थ व भाव न जाननेसे भ्रम होता है ॥ २६ ॥

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ॥ २७ ॥

उसकी (विवेकी वा) ज्ञानीकी (प्रज्ञा) विवेकरूप बुद्धि (सात प्रकारकी प्रांतभूमि) उत्कृष्ट अंत अवस्थावाली होती है अर्थात् विवेकवान् योगीके प्रज्ञाकी सात प्रकारकी उत्कृष्ट अंत अवस्था होती है ॥ २७ ॥

दो०–ता विवेक अख्यातिकी, प्रज्ञाभूमी सात ।
प्रान्तभूमिहू जानिये, तिनहि गनावत भ्रात ॥ २७ ॥

विवेकीकी प्रज्ञाकी सात प्रकारकी प्रान्तभूमि अर्थात् उत्कृष्ट अन्त अवस्था होती हैं. एक–जैसा वर्णन किया गया है कि परिणाम ताप संस्कार दुःखोंसे और गुण व वृत्तियोंके विरोधसे जितना प्रकृति (माया) का कार्य है सब दुःखही है. ऐसे दुःखको हेय (त्यागने योग्य) निश्चित होजाना कि उसमें संदेह व जाननेका अंत होजावे. फिर अधिक जानने योग्य न समझा जावे. दूसरी–हेयहेतुओंका (द्रष्टा व दृश्यके संयोगरूप दुःख उत्पन्न करनेवाले द्वन्द्व आदि दोष

योंमें राग द्वेष मोह कारणोंका) अति क्षीण होजाना. तीसरीसम्प्रज्ञात समाधिअवस्थामें योगीको यह दृढ निश्चित होजाना कि, निरोधसमाधि असम्प्रज्ञातसमाधिसे हान दुःखोंका नाश हो सकता है. और चौथी-विवेकख्याति जो हानका उपाय है उसका अतिभावित होना अर्थात् दृढ व सिद्ध किया जाना ये चार कार्य विमुक्तिरूप हैं. और तीन चित्तविमुक्ति रूप हैं.एक भोगोंमें प्रवृत्त रहनेके अनन्तर चित्तका भोगोंसे उदासीन होकर मोक्षके लिये यत्न करनेमें प्रवृत्त होना. दूसरी, अविद्याके नाश होनेसे बुद्धिके गुणोंका अपने अपने कारणोंमें लय होकर कारणसहित नाशको प्राप्त होना और अविद्याकारणके अभावसे फिर उनका उत्पन्न न होना और तीसरी, जीतेहुए गुणसम्बन्धसे रहित हो ज्ञानीका निर्मल मुक्तरूप होना. इन सात रूपसे विवेक होनेका उपाय होना सिद्धि होना है ॥ २७ ॥

विना साधन सिद्धि नहीं होती है, इससे अब आगे साधन वर्णन करनेका आरंभ करते हैं:-

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिरा-विवेकख्यातेः ॥ २८ ॥

योगके अंगोंके अनुष्ठानसे अशुचि (विषयभोग वा अज्ञान) के नाश होनेसे या विवेकख्यातिसे ज्ञानकी दीप्ति बढती है ॥ २८ ॥

दो०--योगअंग साधन किये, अशुची सब मिट जात ।
विवेकख्यातिको पायकर, ज्ञानप्रदीप दिखात ॥ २८ ॥

योगके अंगोंके अनुष्ठानसे अशुचिका अर्थात् विषयभोग व विषयप्रीतिका नाश होता है. अशुद्धिके नाश होनेसे

ज्ञानकी दीप्ति (प्रकाश) बढती है. जैसे अनुष्ठान वा साधनकी अधिकता होती जाती है वैसेही क्रमसे अशुद्धिकी क्षीणता होतीजाती है. जैसे अशुद्धिकी क्षीणता होतीजाती है उस क्रमसे ज्ञानकी दीप्ति बढती है अथवा विवेकख्यातिसे अर्थात् गुणों व पुरुषके स्वरूपके विज्ञान (विशेषज्ञान) से ज्ञानकी दीप्ति बढती है. 'आ' शब्द,जो सूत्रमें 'विवेक' शब्दके पूर्व है वह विकल्प अर्थवाचक है. योगके अंगोंका अनुष्ठान अशुद्धिके वियोग (नाश) का कारण है; जैसे कुठार मूलसे वृक्षके वियोग (जुदा कर देने) का कारण है. और योगांगोंका अनुष्ठान विवेककी प्राप्तिका कारण है. जैसे धर्म सुखकी प्राप्तिका कारण है. कारण कई-प्रकारके होते हैं, यह जाननेके लिये कारणोंके भेद वर्णन करते हैं, कारण नव प्रकारके होते हैं उत्पत्ति, स्थिति, अभिव्यक्ति, विकार, प्रत्यय, प्राप्ति, वियोग, अन्यत्व व धृतियथा-मन ज्ञानका उत्पत्तिकारण है, पुरुषार्थता मनकी स्थितिका कारण है, आहार शरीरकी स्थितिका कारण है इत्यादिप्रकाश रूपकी अभिव्यक्ति (प्रकट होने) का कारण है. तथा रूपज्ञान रूपकी अभिव्यक्तिका कारण है, पंचमस्वर सुन्दरता आदि एकाग्र हुए मनके विकारके कारण हैं अर्थात् मनमें विकार उत्पन्न करनेके कारण हैं. तथा अग्नि जो चीज पकाई जाती है उसका विकारकारण है. धूम (धुवाँ) का ज्ञान अग्निका प्रत्यय कारण है अर्थात् अग्निके प्रत्यय (ज्ञान) होनेका कारण है, योगके अंगोंका अनुष्ठान विवेकख्यातिकी प्राप्तिका कारण है वही अशुद्धिका वियोगकारण है. सोनार गहनोंका अन्यत्व कारण है. शरीर इन्द्रियोंका धृतिकारण है अर्थात् धारण करनेका कारण है. इसी प्रकारसे ये नव कारण अन्य पदार्थोंमें योजित करने व विचारने योग्य हैं. उक्त प्रकारसे योगके अंगोंका अनुष्ठान अशुद्धिके नाशका

व विवेककी प्राप्तिका दो प्रकारका कारण होना विदित होता है ॥ २८ ॥

अब योगके अंगोंको वर्णन करते हैं:—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणा-ध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥ २९ ॥

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये आठ अंग हैं ॥ २९ ॥

सो०—यम. नियमासन साधि, प्राणायाम प्रतिहार अरु ।
धारणा ध्यान समाधि, अष्ट कहे अंग योगके ॥ २९ ॥

ये योगके आठ अंग हैं इनकी अनुष्ठानविधिका यथाक्रमसे वर्णन किया जाता है ॥ २९ ॥

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥ ३० ॥

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये यम हैं ॥ ३० ॥

दो०—अहिंसा सत्य अस्तेय पुनि, ब्रह्मचर्य जिय जान ।
अपरिग्रह सब पांच मिल, यमस्वरूप पहिचान ॥ ३० ॥

सब कालमें सब प्राणियोंके साथ वैर न रखना व किसी प्राणीका वध न करना अहिंसा है. वैर करना यह मानसिक हिंसा व वध करना कर्म हिंसा है. इन दोनोंका त्याग करना अहिंसाधर्म है मन व इन्द्रियोंसे जैसा जाना जाय या जैसा अपने ज्ञानमें होवे छलरहित वैसाही कहना सत्य हैं परन्तु यह सब प्राणियोंके हितके लिये है परके घात वा तापके लिये सत्य नहीं हैं परको ताप देनेवाला या अहित करनेवाला जो सत्य है वह पाप है, परके द्रव्यको विना उसकी आज्ञा अनुचित रीतिसे गुप्त ग्रहण न करना व मनसे ऐसे ग्रहणकी इच्छा

न करना अस्तेय है, उपस्थ इन्द्रिय (लिंग) को वश रखना जिससें काम उदय होनेका संभव हो ऐसे आचरण न करना यथा स्त्रियोंके रूप देखनेमें चित्त लगाना, स्त्रियोंसे हँसी वार्ता करना, अंगका स्पर्श-करना आदिका त्यागना ब्रह्मचर्य है. विषयोंके संचय करनेमें निंदित-परिग्रह दोष होने तथा रक्षा करनेमें व नाश होने व संग होनेमें और राग बढने व हिंसा होनेमें दोषोंको जानकर उनका अंगीकार न करना अपरिग्रह है अर्थात् जो पदार्थ रागको बढाता है उसको दोष-रूप और अपरिग्रहरूप जान उनमें इच्छाका न करना अपरिग्रह जानना चाहिये. ये पांचों यमके भेद लक्षणोंसहित समझकर कहे गये हैं ॥ ३० ॥

एते जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्व-भौमा महाव्रतम् ॥ ३१ ॥

जो अहिंसा अथवा अहिंसा आदि यम जाति देश काल और समयोंसे अवच्छिन्न न हों अर्थात् जाति देश काल व समय विशेषके नियम व परिमाणयुक्त न हों उनका सम्पूर्ण भूमि सब प्राणी सब काल और सब देशमें परिपालन करना महाव्रत है ॥ ३१ ॥

सो०—अनहिंसादिक पांच, जाति देश औ काल विन ।
समयरहित यह पांच, सार्वभौम औ महाव्रत ॥ ३१ ॥

गौ व मनुष्यको न मारना चाहिये, मत्स्य छेरी बकरा आदि मार-नेमें दोष नहीं है, यह जात्यवच्छिन्न अहिंसा है। तीर्थदेशमें हिंसा न करना चाहिये, अन्यत्र करनेमें दोष नहीं ऐसा मानना देशावच्छिन्न अहिंसा है। व्रत श्राद्ध आदि पुण्य दिनमें हिंसा न करूंगा यह कालावच्छिन्न और यज्ञमें देवताके लिये हिंसा करूंगा, अन्यथा नहीं, यह

समयावच्छिन्न अहिंसा है, इस प्रकारसे जो जाति आदिकोंके साथ अवच्छिन्न न हो ऐसे अहिंसाधर्मको पालन करना अर्थात् ऐसा जानकर कि किसी प्राणीको वध करना व दुःख देना उचित नहीं है, सब स्थान व सब कालमें हिंसा पाप है. सर्वथा हिंसाको त्यागना महाव्रत है, इसीके समान जाति, देश, काल व समयविशेषके नियमरहित सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रहके अनुष्ठान व पालन करनेको महाव्रत जानना चाहिये ॥ ३१ ॥

शौचसन्तोषतपस्स्वाध्यायेश्वरप्रणि-धानानि नियमाः ॥ ३२ ॥

शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान ये नियम हैं ॥ ३२ ॥

दो०—शौच और संतोष तप, स्वाध्याय ईश्वरध्यान।
पांच नियम मुनिवर कहे, मानहु सत्य प्रमाण ॥ ३२ ॥

शौच पवित्रताको कहते हैं, पवित्रता दो प्रकारकी होती है, एक बाहरकी व दूसरी भीतरकी, मिट्टी व जलसे बाहरके अंगोंको शुद्ध करना, स्वच्छ वस्त्र धारण करना, ग्रास संख्यासे सूक्ष्म भोजन करना, जिससे मल और आलस्यकी वृद्धि न होवे, यह बाहरकी पवित्रता है. सत्यभाषण, विद्याभ्यास, सत्संग धर्माचरणसे असत्य मान मद ईर्षा मलसे चित्तको शुद्ध करना, यह अंतर (भीतर) की 'पवित्रता' है, अपने प्राणरक्षामात्रके लिये जो आवश्यक है उससे अधिक अन्न धन वस्त्र आदिकी इच्छा न करना 'संतोष' है, क्षुधा पिपासा शीत उष्ण सहना कृच्छ्रचान्द्रायण आदि व्रत करना व अन्य धर्माचरण व शुभ गुणोंके आचरणसे आत्मा (मन) को तप्त सुवर्णके समान निर्मल करना 'तप' है, मोक्षविद्याविधायक

वेद शास्त्रका पढना या प्रणवका जप करना 'स्वाध्याय' है, सब कर्म प्राण आत्मा ईश्वरमें समर्पण करना ईश्वरप्रणिधान है अर्थात् सर्व कर्मों व शुभधर्मोंके फलको ईश्वरमें समर्पण करना और ध्यान करके चित्तको स्थिर करना 'ईश्वर प्रणिधान' है, चाहे शय्यामें आराम करता, चाहे आसनमें बैठा, चाहे मार्गमें चलता हो जो स्वस्थ चित्त सम्पूर्ण कुतर्क जालसे रहित है और संसार बीजके नाश करनेवाले ज्ञानको प्राप्त है वह दोषरहित व नित्यमुक्त है ॥ ३२ ॥

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३३ ॥

कुतर्कके बाधा करनेमें प्रतिपक्ष (विरुद्धपक्ष) की भावना करनी चाहिये ॥ ३३ ॥

दो०–जो संयम औ नियमते, चित्त होय विपरीति ।
तो तिनके प्रतिपक्षकी, भावनकर चित जीति ॥ ३३ ॥

जब मनमें कुतर्क हो तब उसके निवृत्त होनेके लिये विरुद्ध पर जो विचार है उसकी भावना करनी चाहिये. यथा–जब ऐसे वितर्क कुतर्क उत्पन्न होवें कि इसने मेरी हानि की है, इसको मार डालूंगा, अपने प्रयोजन सिद्ध होने या दूसरेकी हानिके लिये यह बात झूठ कहूँगा, इसका धन लेलूंगा, इसकी सुन्दरी स्त्रीके साथ भोग करूंगा ऐसे अधर्माचरणोंकी इच्छा रूप प्रबल वितर्कोंसे जब हृदयको बाधा होवे तब इस प्रकारसे वितर्कोंके प्रतिपक्षरूप, अर्थात् शत्रुरूप विचार व विरागकी भावना करे कि मैं महा अधम हूँ जो ऐसे घोर संसारमें पच करके बहुत काल अधर्म व कुकर्ममें वृथा व्यतीत करके गुरुकृपासे अच्छे संस्कारसे भगवत् शरणको प्राप्त हुआ हूं. सब प्राणियोंके अभयपदको देनेवाला योग धर्म है, उस प्राप्त योगधर्मको छोडकर फिर कुतर्क दुष्ट वासनामें पतित होता हूं वा होरहा हूँ, यह त्यागने योग्य है. धर्मसे उत्तम कुछ नहीं है; उसकी दृढता मुख्य है इस प्रकारसे मनको स्थिर व दृढ करना चाहिये ॥ ३३ ॥

अब आगे सूत्रमें प्रतिपक्षभावनाको स्पष्ट वर्णन करते हैं—

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभ-क्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञाना-नन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३४ ॥

लोभ क्रोध मोहपूर्वक मृदु मध्य अधिमात्रा संयुक्तकृत(किये गये) कारित(कराये गये) अनुमोदित (अच्छे समझे गये) हिंसा आदि वितर्क अनन्त दुःख व अज्ञान फलवाले हैं ऐसा विचार करना प्रतिपक्षभावन (प्रतिपक्षकी भावना करना) है ॥३४॥

दो०—लोभ क्रोध औ मोह ये, न्यूनाधिक जस होत ।
हिंसा आदि वितर्क तस, मृदु मध्यादि उदोत ॥
आप करे औ अन्यकी, प्रेरणकृत जो होइ ।
प्रथम मान अनुमोदिता, दुख अनंत फल सोइ ॥
हिंसा आदिकसे कबहुँ, होत न सुख लवलेश ।
क्लेश रहत है सर्वदा, कर प्रतिपक्ष विशेष ॥ ३४ ॥

हिंसा आदि अधर्म आचरण कृत (किये गये) कारित (दूसरेसे कराये गये) अनुमोदित (अच्छे समझे गये) ये सब वितर्क हैं. मांस व चर्मके लिये मारना लोभपूर्वक हिंसा है इसने हमारा अपकार (नुकसान) किया है, इस द्वेषसे मारना क्रोधपूर्वक हिंसा है. बलि-दानमें इस मोह (अज्ञान) से मारना कि इससे धर्म व स्वर्ग प्राप्त होगा, मोहपूर्वक हिंसा है, अब कृत कारित और अनुमोदित इन तीनोंमेंसे पृथक् पृथक् प्रत्येकके लोभ क्रोध और मोहपूर्वक होनेसे अर्थात् एक एक के तीन तीन भेद होनेसे हिंसा नव

प्रकारकी होती है. फिर लोभ क्रोध मोहोंमें मृदुमात्रा (थोडा होना) मध्यमात्रा (न बहुत कम होना न बहुत अधिक होना) तीव्रमात्रा (अधिक होना) ये तीन भेद होनेसे नव प्रकारमें एक एकमें तीन तीन भेद होजानेसे सत्ताईस २७ भेद होते हैं, मृदु मध्य और तीव्र मात्राओंमेंभी एक एकमें तीन तीन, भेद होनेसे अर्थात् मृदुमें—मृदुमृदु, मृदुमध्य, मृदुतीव्र, ये तीन मध्यमें—मृदुमध्य, मध्यमध्य, मध्यतीव्र, ये तीन और तीव्रमें मृदुतीव्र, मध्यतीव्र, तीव्रतीव्र, ये तीन भेद होनेसे सत्ताईस भेदोंमें फिर एक एकमें तीन तीन भेद होजानेसे इक्यासी ८१ भेद होते हैं. फिर असंख्य प्राणियोंके भेद होनेसे नियम विकल्प समुच्चय भेदसे अधिक भेद होजाते हैं, इसी हिंसाके समान असत्य आदिके भेद समझने चाहियें, ये वितर्क नरक आदि दुःख स्थावर आदि योनियोंमें प्राप्त होने, अज्ञानके हेतु होनेसे अनन्त दुःख व अज्ञान फलके करनेवाले हैं. ऐसा वितर्कोंके विरुद्ध विचारना प्रतिपक्ष भावन है; जैसे वध करनेवाला जिसको मारता है प्रथम उसको निर्बल व अपने अधीन करता है फिर हथियारसे काटकर दुःख देता है और प्राणरहित करता है उसी तरह निर्बल करनेसे वध करनेवालेके इन्द्रिय व शरीर परिणाममें निर्बल होते हैं, निर्बल होनेसे बल क्षीण व पराधीन होता है; दुःख देनेसे नरक तिर्यक् योनि और प्रेत आदि योनिमें प्राप्त होता है. दुःख भोग करता है, प्राणरहित करनेसे आयु क्षीण होती है. जन्मान्तर, में जो किसी पुण्यसे सुखको प्राप्त हुआ तो सुख भोगके लिये आयु थोडी होती है. इसी प्रकारसे असत्य आदिसे परका अपकार और अधर्म करनेसे अनेक दुःखरूप फल होते हैं. इससे बुद्धिमान् विचारद्वारा देखें. हिंसादिक दुःखकी खान है, इनका फल अज्ञानकृत अनन्त दुःखही है. जो लोभ क्रोध और

मोहके वश होकर अपने सुखके लिये पराया अहित करता है. सो इससे पहले तो चित्त प्रसन्न होता है परन्तु अंतमें सब सुख नष्ट होकर अनन्त दुःख प्राप्त होता है, सो जो सुख चाहे वह दृढ करके हिंसादिक सब वितर्कोंको विचारद्वारा त्यागके मोक्षसुखके यत्नमें लगा रहे ॥ ३४ ॥

अब यम नियमके साधनसे क्या फल है, या होता है ? वह वर्णन करते हैं:-

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥ ३५ ॥

अहिंसाकी प्रतिष्ठामें (दृढ स्थितिमें) अर्थात् इस प्रकारसे चित्तमें अहिंसाकी दृढ स्थिति होनेमें कि फिर कभी हिंसाका भाव उदय न हो उसके समीपमें (अहिंसामें दृढता रखनेवाले योगीके समीपमें) वैरका त्याग होता है ॥ ३५ ॥

दो०--हिंसा जो नहिं करत हैं, तिनको फल अस होइ ।
तिनलों वैर न करहि कोउ, जगत् जीव जो कोइ ॥ ३५ ॥

जो योगी हिंसाको कर्मसे व मनसे सर्वथा त्याग देता है; उसके हृदयसे वैरभाव दूर हो जाता है, किन्तु उसके संग व समीपमें अन्य जीवोंका वैरभाव छूट जाता है अर्थात् व्याघ्र गो, भैंसा घोडा, मूसा बिल्ली, सर्प न्योला आदि एक दूसरेसे वैरभाव त्याग देते हैं ॥ ३५ ॥

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥ ३६ ॥

सत्यकी प्रतिष्ठामें क्रिया व फलका आश्रयत्व (आश्रय होना) सिद्ध होता है अर्थात् योगीके वाक् व मनोरथ क्रिया व फलके आश्रय होते हैं ॥ ३६ ॥

दो०--सत्य वचन बोलत सदा, झूठ न चितमें लाव ।
अति अमोघ वाणी लहै, वचन सिद्धि कहुँ पाव ॥ ३६ ॥

जब धार्मिक मनुष्य निश्चय करके केवल सत्यही मानता और कहता है तब वह जो जो योग्य काम करता व करना चाहता है वे सब सफल होजाते हैं. सम्पूर्ण क्रिया व फल उसके वचन व इच्छामें आश्रित होते हैं अर्थात् उसके सब मनोरथ व वचन पूर्ण व सत्य होते हैं. उस योगीके वचनसे अन्यको सुख व मनोरथ प्राप्त होता है. उसका वचन मिथ्या नहीं होता ॥ ३६ ॥

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥ ३७ ॥

चोरी न करनेकी प्रतिष्ठामें सब दिशा व स्थान रत्नस्थान होते हैं ॥ ३७ ॥

दो०—तनसों चोरी करहि नहिं, मनहू में नहिं लाइ।
जह चाहै तह मिलत हैं, स्वयं रत्न सब आइ ॥ ३७ ॥

जब साधन करनेवाला मनुष्य शुद्ध मनसे सर्वथा चोरीको त्याग देता है तब उसको सब स्थानमें वांछित रत्न व उत्तम पदार्थ प्राप्त होने लगते हैं ॥ ३७ ॥

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥ ३८ ॥

ब्रह्मचर्यकी प्रतिष्ठामें सामर्थ्य प्राप्त होता है ॥ ३८ ॥

दो०—ब्रह्मचर्य धारण किये, बल अरु वीर्य दृढाय ।
अणिमादिक सिद्धीनको, सहज लेत सो पाय ॥ ३८ ॥

ब्रह्मचर्य साधनमें अर्थात् उपस्थ (लिंग) इन्द्रियके संयम रखनेसे याने व्यभिचार न करनेसे विद्या पठन पाठन युक्त शुद्ध चित्त कामव-जित होनेसे शरीर व बुद्धिका बल बढता है और सिद्धियां प्राप्त होती हैं ॥ ३८ ॥

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः ॥ ३९ ॥

अपरिग्रहकी दृढता होनेमें अर्थात विषयसे रहित होनेमें अपने जन्मान्तरके भेदोंका ज्ञान या विचार होता है ॥ ३९ ॥

दो०–अपरिग्रह थिर होत जब, लहत ज्ञान निज कर्म ।
तीन कालके जन्मको, पावत ज्ञान अधर्म ॥ ३९ ॥

जब मनुष्य सब विषयोंको त्यागकर सर्वथा जितेन्द्रिय होता है, तब मैं कौन था ? कहाँसे आया हूं ? कौन हूं ? कहाँ जाऊंगा ? भूत भविष्यत् वर्तमान तीनों कालमें जन्मान्तरका विचार और क्या करनेसे मेरा कल्याण होगा यह ज्ञान उसके चित्तमें स्थिर होता है ॥ ३९ ॥

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥ ४० ॥

शौचसे अपने अङ्गोंमें घणा और परके अङ्गोंके साथ संयोग करनेकी मति न होती है ॥ ४० ॥

दो०–पूरव शुचिकी प्राप्तिते, होत घृणा निज काय ।
पर अंग शुद्ध अशुद्ध कर, कबहुँ न संग कराय ॥ ४० ॥

पूर्वही जैसा शौच वर्णन किया है उस प्रकारसे शौच (पवित्रता) में दृढता होनेसे जब शौच करनेपर भी अपने शरीर व शरीरके अवयवोंमें मलिनता रहते अर्थात् बाहिर भीतर मल संयोग रहते देखता है, सर्वथा शुद्ध नहीं होते तब औरोंके शरीर मलसे भरे जानकर योगी दूसरेसे अपने शरीर मिलानेमें संकोच व घृणा करके सदा अलग रहता है, यह बाह्य शौचका फल है ॥ ४० ॥

अब आन्तरशौचके फलको वर्णन करते हैं:–

सत्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ॥ ४१ ॥

और सत्त्व (बुद्धि या अंतःकरण) की शुद्धि सौमनस्य (मनकी प्रसन्नता) ऐकाग्र्य इन्द्रियोंका जीतना आत्मज्ञानके योग्य होनेका फल होता है ॥ ४१ ॥

दो०—मैत्रियादिते होत है, रागादिककी हानि।
रागहानिते होत पुनि, सत्त्वशुद्धि जिय जानि॥
सत्त्वशुद्धिते स्वच्छता, चित्त स्थिरहू जान।
चित्तकी स्थिरता भये, इन्द्रिय सब वश मान॥
इन्द्रियके वशिकारते, होत योग्यता पर्म।
आत्माको दर्शन करत, पुनि लहत कछु शर्म॥ ४१॥

शौचसे क्रमसे सत्त्वशुद्धि अर्थात् रजोगुण व तमोगुणके कार्यरूप ईर्षा आदि मल दूर हो जानेसे जब सत्त्वगुणरूप अंतःकरण शुद्ध होता है, तब मनकी प्रसन्नता होती है. उसके अनन्तर चित्तका ऐकाग्र्य होता है. चित्तके ऐकाग्र्य होने योगी इन्द्रियोंको जीतता है, इन्द्रियोंके जीतनेसे आत्मज्ञानके योग्य होता है, यह अन्तर शौचका फल है. अन्तरीय शुचि जब प्राप्त होती है तब अज्ञान और अज्ञानके कार्य नष्ट होके ज्ञानका प्रकाश हो जाता है, इसीको पूर्ण शुचि कहते हैं॥ ४१॥

सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः॥४२॥

संतोषसे जिससे उत्तम अन्य सुख नहीं है ऐसा
सुख प्राप्त होता ह॥ ४२॥

दो०—होत सकल संतोषते, अति उत्तम सुख जोइ।
प्राप्त होत है विनहि भ्रम, संशय करो न कोइ॥ ४२॥

संतोषसे तृष्णाके नाश होनेसे अति उत्तम सुख होता है. महात्माओंने कहा है कि, जो काम आदि और बडे बडे सुख संसारमें हैं वे सब दोषयुक्त हैं, तृष्णाके नाश होनेसे जो निर्दोष सुख है अन्य सुख उसके सोलहवीं कलाको नहीं तुलते॥ ४२॥

कायेन्द्रियसिद्धिरशुचिक्षयात्तपसः॥४३॥

तपसे अशुचिके (अशुद्धिके) नाश होनेसे शरीर व इन्द्रियोंकी सिद्धि होती है ॥ ४३ ॥

दो०–तपते रज तम अशुचि सब, सहज होत है दूर।
काया और इन्द्रीनकी, सिद्धि पाय भरपूर ॥ ४३ ॥

तपसे अशुद्धिका नाश होता है और अशुद्धि अर्थात् आवरणरूप अज्ञानके नाश होनेसे शरीर व इन्द्रियोंकी सिद्धि प्राप्त होती है, शरीर सिद्धि अर्थात् अणिमादिक सिद्धि और दूर देशका देखना व दूर देशके शब्दका सुनना आदि इन्द्रियसिद्धकी प्राप्ति होती है ॥ ४३ ॥

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ॥ ४४ ॥

स्वाध्यायसे इष्ट देवताका संप्रयोग होता है ॥ ४४ ॥

दो०–स्वाध्यायकी पूर्णता, इष्ट देवको देखि।
हुई अभीष्टहु सिद्धि सब, देव आप तिहि पेखि ॥ ४४ ॥

स्वाध्यायसे अर्थात् इष्टमंत्रके जपसे जो इष्ट देवता है, उसका संप्रयोग (साथ) अर्थात इष्ट देवताका दर्शन होता है और इष्ट देवता उपासकके सब कार्य सिद्धकरनेमें सहायक रहता है अथवा इष्ट देवतासे यहाँ मुख्य परमात्माका ग्रहण है अर्थात् स्वाध्याय प्रणवके जप व आत्मनिरूपणसे परमात्माके साथ संयोग होता है. फिर परमात्माके अनुग्रहकी सहायता और अपने आत्माके, सत्याचरण पुरुषार्थ प्रेमके संयोगसे जीव मुक्तिको प्राप्त होता है ॥ ४४ ॥

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥ ४५ ॥

ईश्वरप्रणिधानसे समाधिकी सिद्धि होती है ॥ ४५ ॥

दो०–ईश्वरके प्रणिधानते, होत समाधी सिद्ध।
संप्रज्ञात समाधिकी, लगी रहत सब रिद्ध ॥ ४५ ॥

ईश्वरके सब भाव समर्पण करनेसे योगी सुगमतासे समाधिको प्राप्त होता है ॥ ४५ ॥

स्थिरसुखमासनम् ॥ ४६ ॥

जिसमें सुखपूर्वक शरीर व आत्मा स्थिर हो वह आसनहै ४६

दो०—स्थिर सुख जासों मिलै, आसन ताको नाम ।
पद्मासन वीरासन, भद्रासन सुखधाम ॥ ४६ ॥

जिसमें आत्मा व शरीर स्थिर अर्थात् निश्चय हो व सुख हो वह आसन है, आसन बहुत प्रकारके हैं. यथापद्मासन, वीरासन, भद्रासन, स्वस्तिक, दण्डासन, सोपाश्रय पर्यंक, क्रौंचनिषन्दन, हस्तिनिषदन, समसंस्थान, स्थिरसुख आदि. पद्मासनमें बायाँ चरण सिकोरकर दाहिनी जांघके ऊपर रक्खा जाता है व दाहिना चरण बायें जांघके ऊपर. इसी प्रकारसे अन्य भद्रासन आदिके पृथक् २ विधान व स्वरूपका वर्णन है, परन्तु सब आसनोंसे वर्णन करनेकी तथा उसके साधन करनेकी आवश्यकता नहीं है. पद्मासन साधारण व प्रसिद्ध है और प्रयोजनके लिये अच्छा है. महात्मा सूत्रकारके मतानुसार इन आसनोंमेंसे किसी आसनसे अथवा जिस प्रकारसे रुचि हो उस प्रकारसे बैठे क्योंकि मुख्य प्रयोजन यह है कि, जिसमें सुखपूर्वक शरीर व आत्मा स्थिर हो वही आसन है ॥ ४६ ॥

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ॥ ४७ ॥

प्रयत्नकी शिथिलता व अनन्तमें चित्त लगाने (एकाग्र करने) से आसनजित होता है ॥ ४७ ॥

दो०--सहज चेष्टा देहकी, करत शेषसम काय ।
निश्चल करहि शरीर तब, आसन सिध हुए जाय ॥ ४७ ॥

शरीरका काँपना, चित्तका एकाग्र (स्थिर) न रहना अनेक विषयोंमें दौडना यह साधारण शरीरका प्रयत्न व चित्तकी अवस्था है. यह शरीरका साधारण चलायमान होना है उसको साधनकी दृढतासे शिथिल करना कि, जिससे निश्चल होय शरीरमें कम्प न हो व अनन्त जो परमेश्वर है उसमें समापत्तिसे अर्थात् दृढ चित्तको लगानेसे जिससे विषयवासनामें दौडकर एक स्थान व आसन साधनसे उच्चाटन हो आसन सिद्ध होता है, प्रयत्नकी शिथिलता व अनन्तमें समापत्ति (एकाग्र चित्तकरना) ये दो आसनजित् होनेके उपाय हैं ॥४७॥

ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥४८॥

उससे (आसनजित् होनेसे)द्वन्द्वोंसे बाधा नहीं होती है४८

दो-आसनकी सिद्धि लहे, द्वन्द्व करत नहिं घात ।
शीत उष्ण दुखसुख कछू, व्यापत नहिं तिहि गात ॥ ४८ ॥

जब योगी आसनजित् होता है अर्थात् आसनमें दृढता प्राप्त कर लेता है तब उसको द्वन्द्वोंसे अर्थात् शीत उष्णता आदिसे शरीरमें बाधा नहीं होती और बाधा न होनेसे ध्यान वा समाधिमें विक्षेप नहीं होता है ॥ ४८ ॥

तस्मिन् स श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥४९॥

उसमें (आसनमें) स्थित होकर श्वास व प्रश्वासोंकी गतिका रोकना प्राणायाम है॥४९॥

दो०-जब आसननिज होत तब, श्वास और प्रश्वास ।
गति अभाव तिहि होत है, प्राणायाम प्रकाश ॥ ४९ ॥

जो वायु बाहिरसे भीतरको आती है उसको श्वास व जो भीतरसे बाहिरको जाती है उसको प्रश्वास कहते हैं. दोनोंके आने जानेको रोकना प्राणायाम है, बाहिरकी वायुको भीतर

भरनेको पूरक व भीतरकी वायुको बाहिर निकालने वा छोडनेको रेचक व रोक रखनेको कुम्भक कहते हैं. श्वाससे बाहिरकी वायुको भीतर खैंचकर थाँभना श्वास प्रश्वासका रोकना अथवा भीतरकी वायुको बाहिर निकालकर श्वास प्रश्वासका रोकना प्राणायाम है ॥ ४९ ॥

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसङ्ख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः[1] ॥ ५० ॥

बाह्य आभ्यन्तर स्तंभवृत्तियाँ हैं जिसकी ऐसा प्राणायाम देश काल संख्याओंसे दीर्घ व सूक्ष्म विदित होता है ॥५०॥

दो०—बाह्यवृत्ति अरु अन्तर, स्तभवृत्ति जिय जान।
प्राणायाम विभेदत्रय, लेहु तिने पहिचान ॥ ५० ॥

प्रश्वासपूर्वक वायुकी गतिका अभाव होना अर्थात् रुकना बाह्य वृत्ति; श्वासपूर्वक वायुकी गतिका अभाव आभ्यन्तर वृत्ति और दोनोंका अभाव स्तंभवृत्ति ये तीन हैं वृत्तियां जिसकी ऐसा जो प्राणायाम है, वह देश काल संख्याओंसे दीर्घसे सूक्ष्म होना विदित होता है. इस सूत्रमें पूर्वसूत्रसे प्राणायामशब्दकी अनुवृत्ति आती है अर्थात् पूर्वसूत्रके संबन्धसे इसमें प्राणायामशब्दका ग्रहण होता है. बाह्य, आभ्यन्तर व स्तंभ वृत्ति तथा दीर्घ व सूक्ष्म ये प्राणायामके विशेषण हैं. देश काल व संख्याओंसे दीर्घका सूक्ष्म विदित होना यह है कि रेचकका बाह्यदेश विषय है व पूरक कुम्भकोंका अन्तर देश विषय है, इससे देशशब्दसे बाहिर व भीतरसे वायुके भरने व निकालनेके देशोंका ग्रहण होता है.। कालसे क्षणोंसे लेकर घटी पहर दिन आदि

---

१ स तु बाह्याभ्यन्तर इति भोजवृत्तिसम्मतो मूले पाठः।

परिमाणसे प्राणायाममें कालकी अधिकता होते जानेसे अभिप्राय है अर्थात् प्रथम कुछ क्षणोंतक प्राणायाम करना, फिर अधिक समर्थ होनेसे उससे अधिक देरतक करना, इसी तरह दिन पक्ष मास आदि तक अभ्यास बढाना प्रणवके छत्तीस संख्यातक प्रश्वासपूर्वक प्रथम स्तंभन करना फिर मन्द मन्द श्वास लेना अथवा बारह संख्यातक श्वास भरना व बत्तीसतक स्तंभन करना व बीसतक प्रश्वास निकालना फिर अधिक बढाकर सोलह संख्यातक अर्थात् सोलह बार प्रणव (ॐशब्द) के उच्चारणतक श्वासको धीरे धीरे खींचकर भरना व चौंसठतक स्तंभ करना व बत्तीसतक धीरे धीरे प्रश्वाससे बाहर निकालना. फिर जैसा अभ्याससे सामर्थ्य बढता जाय अधिक करना. इन देश काल संख्याओंके परिमाणसे प्राणायाम साधनमें वायुके रोकनेकी शक्तिकी अधिकता होती जाती है, अभ्याससे रोकनेकी शक्ति अधिक होनेके अनुसार प्राणवायु दीर्घसे सूक्ष्मरूप होता जाता है अर्थात् जैसे तपे हुए पत्थरमें जो जलकी बिन्दु (अर्थात् बूँद) पडती है वह चारों तरफसे संकुचित होती व सूखती जाती है व संकुचित होती हुई सूक्ष्म होती जाती है, इसी तरह अभ्यास किये जानेसें अधिक बहनेवाली अधिक देश व कालसे व्यापित होनेसे दीर्घ वायु रुककर शरीरही मात्रमें सूक्ष्म होकर रहजाती है; यह प्राणवायुका दीर्घरूपसे सूक्ष्म होना है. संख्यामें कोई तीन बार हाथसे जानुके छूनेके कालको मात्रा संज्ञा मानकर मात्राओंकी संख्या प्राणायाम साधनमें कहते हैं, परंतु प्रणवके उच्चारणको मानना व प्रणवके उच्चारणकी संख्यासे प्राणायामका विधान उत्तम जानकर प्रणवकी संख्याको प्राणायामके संख्याविधानमें वर्णन किया है ॥ ५० ॥

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ॥ ५१ ॥

बाह्याभ्यन्तर विषयाक्षेपी चौथा प्राणायाम है अर्थात् बाह्य विषय व आभ्यन्तर विषयमें आक्षेप पूर्वक (अवरोपण पूर्वक) जो वायुकी गतिका अवरोध (रोकना) है वह चौथा प्राणायाम है ॥ ५१ ॥

दो०-रेचक पूरक दोउनको, आक्षेपी जो कोइ ।
चौथो प्राणायाम सो, कुम्भक जानो सोइ ॥ ५१ ॥

देश, काल व संख्याओंसे बाह्य विषय और आभ्यन्तर विषयमें जो वायुके आक्षेप (आरोपण) हैं इन दोनों आक्षेपपूर्वक क्रमसे वायुकी गतिके रोकनेको बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी नामक चौथा प्राणायाम कहते हैं, अब इसमें यह संदेह होता है कि स्तंभवृत्ति जो तीसरा प्राणायाम कहा है वह भी वायुकी गतिको रोकना ही है, इससे तीसरेसे विशेष चौथा नहीं है, जो पृथक्क माना जाय. इसका उत्तर यह है कि, क्रमरहित एकही बार रोकनेको तीसरा प्राणायाम कहा है और बाह्याभ्यन्तर विषयाक्षेपी वह है कि, क्रमसे प्रणव वा मात्राकी संख्यासहित बाह्यदेशमें वायुको निकाले व इसी तरहसे क्रमसे आभ्यन्तर (भीतर) देशमें वायुको भरे, इस प्रकारसे क्रमसे प्रथम रेचक व पूरक करके वायुको बाहर व भीतर जितना रोक सके रोके फिर अभ्याससे रोकनेमें समर्थ होकर बाहर व भीतर जाने व आनेकी गतिको रोककर जबतक स्तंभन करसके स्तंभन करे इस विशेषतासे तीसरेसे भिन्न है अर्थात् इसमें देश काल व संख्याओंके क्रमका आलोचन है. तीसरेमें क्रमका आलोचन (ख्याल) नहीं है, एकही बार रोक देनेका विधान है. चारों प्राणायामोंका संक्षिप्त व स्पष्ट वर्णन इस तरह समझना चाहिये कि, जब भीतरसे बाहरको प्रश्वास निकले तब उसको बाहरही रोक देवे यह प्रथम प्राणायाम है. बाहरसे भीत-

रको श्वास आवे तब उसको जितना रोकसके उतना भीतर ही रोक देवे यह दूसरा है. तीसरा स्तंभवृत्ति वह है कि, न वायुको बाहर निकाले न बाहरसे भीतरको ले जाय, जितनी देरतक रोक सकें ज्योंका त्यों रोक देय. चौथा वह है कि, थोडा थोडा क्रमसे वायुको बाहर निकालकर रोके. इसी प्रकारसे क्रमसे भीतरको ले जाकर रोके. फिर बाहर व भीतरकी गतिको क्रम व यत्नसे रोक करके स्तंभन करे. ये चार प्रकारके प्राणायाम हैं ॥ ५१ ॥

अब प्राणायामका फल वर्णन करते हैं-

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥ ५२ ॥

उससे प्रकाश (ज्ञान) का आवरण क्षीण होता है ॥ ५२ ॥

दो०—प्राणायामप्रयोगते, होत विवेक प्रकाश।
तब आवरण अज्ञान तम, सहज होत सब नाश ॥ ५२ ॥

उससे अर्थात् प्राणायामके अभ्याससे प्रकाश जो विवेकज ज्ञान है उसका आवरण अर्थात् छिपानेवाला मोह वा अज्ञान जो मायाजालरूप अधर्म कर्म व संसारबन्धनका हेतु है वह क्षीण होता है. प्राणायाम परम तप है कि, जिससे पाप मल दूर होता है व ज्ञानदीप्तिका प्रकाश आत्मसाक्षात्कारसे परमानन्द होता है ॥ ५२ ॥

धारणासु च योग्यता मनसः ॥ ५३ ॥

धारणामें मनकी योग्यता (स्थिरता) होतीहै ॥ ५३ ॥

दो०—मन स्थिरकर हेतु हैं, प्राणायाम विशुद्धि ।
तिहि निश्चल कर धारणा, भ्रमत नहीं कहुँ बुद्धि ॥ ५३ ॥

मन स्थिरहोनेका कारण प्राणायाम है तिससे निश्चल धारणा होती है और फिर बुद्धि कहीं नहीं भ्रमती है ॥ ५३ ॥

स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥ ५४ ॥

विषयोंसे चित्तके अपने निवृत्त होनेमें चित्त स्वरूपके अनुकारके समान इन्द्रियोंका होना प्रत्याहार है ॥ ५४ ॥

दो०—इन्द्रिय अपने विषयसों, होत रहित अति स्वच्छ ।
चित्त स्वरूप सम होत तब, प्रत्याहार प्रत्यच्छ ॥ ५४ ॥

अपने विषयोंसे चित्तके निवृत्त होनेमें अर्थात् राग द्वेष मोह होने योग्य शब्दआदि विषयोंमें जो साधारण चित्त प्रवृत्त रहता है साधन विशेषसे इन शब्दआदि विषयोंसे उसके निवृत्त होने व एक ध्येय पदार्थमें स्थिर होनेमें उसी चित्तस्वरूपके अनुसार (समान आकार) अर्थात् तसबीर या छायाके समान इन्द्रियोंकाभी विषयोंसे निवृत्त होकर एकाग्र होना प्रत्याहार है. अभिप्राय यह है कि, जैसे मक्षिका मधुकरराजके चलनेमें चलती व स्थिर होनेमें स्थिर होती है, इसी प्रकारसे इन्द्रियोंका सर्वथा चित्तके अधीन होजाना, चित्तके रोकनेसे उनका रुक जाना और उनके रोकनेके लिये अन्य उपायकी आवश्यकता न होना प्रत्याहार है ॥ ५४ ॥

अब प्रत्याहारका फल वर्णन करते हैं—

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥ ५५ ॥

इति श्रीपातञ्जले योगशास्त्रे साधननिरूपणं नाम द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

उससे इन्द्रियोंकी परम वश्यता (अत्यन्त वश होना) होती है ॥ ५५ ॥

दो०-प्रत्याहार जब होत है, पूर्ण महाबलवान ।
इन्द्रिय सहजहि होत वश, यह निश्चय जिय जान ॥ ५५ ॥

---

१ असंप्रयोगाचित्तस्य इत्यपि पाठांतरम् ।

उससे अर्थात् प्रत्याहारसे यह फल होता है कि, इन्द्रियोंकी अत्यन्त अधीनता होजाती है. इन्द्रियोंके अधीन होजानेसे योगी जितेन्द्रिय होकर जहाँ अपने चित्तको ठहराना चाहे वहां ठहरा सकता है व जिससे निवृत्त किया चाहे उससे निवृत्त कर सकता है. अब संदेह यह है कि, अपरम वश्यता (जो परम वश्यता न हो) क्या है कि जिसकी अपेक्षा परम वश्यता कही है, क्योंकि विना अपरमके परम, विना न्यूनके अधिक और विना छोटेके बडा इत्यादिका व्यवहार नहीं हो सकता ? उत्तर यह है कि, शब्द आदि विषयोंका धर्म विरुद्ध सेवन न करना अर्थात रूपमें मोहित होने व असत्य निरर्थक वार्ता सुननेसे तुच्छ विषयोंमें अनुचित स्पर्शभोगकी इच्छा होनेमें विचार करके मन व इन्द्रियोंको वश्य रखना, अधर्माचरण न करना, अपरम (न्यून) वश्यता है. इसकी अपेक्षा प्रत्याहारका फलरूप सर्वथा इन्द्रियोंका चित्तके अधीन होना परमवश्यता कहना युक्त है ॥ ५५ ॥

इतिश्रीपातञ्जले योगशास्त्रे श्रीमद्धार्मिकप्यारेलालात्मजबाँदामण्डला-न्तर्गततेरहीत्याख्यग्रामवासिश्रीप्रभुदयालुनिर्मिते भाषाभाष्ये साधननिदर्शनं नाम द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

अथ विभूतिपादः ३.

अब तृतीयपादमें विभूतिका वर्णन करते हैं-

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ १ ॥

चित्तको किसी देशमें बांधना धारणा है ॥ १ ॥

दो०—एकदेशमें चित्तको, बन्धन दृढ कर होइ ।
डिगहि नहीं तिहु कालमें, कहत धारणा सोइ ॥ १ ॥

नाभिचक्रमें या हृदयकमलमें या मस्तकमें या नासिकाके या जिह्वाके अग्रभागमें चित्तको चंचलतासे रोककर बांधना

अर्थात् स्थिर करना व ओङ्कारका जप करना व उसके अर्थसे ईश्वरका विचार करना धारणा है अर्थात् शरीरके किसी अवयव या बाह्य विषयमें चित्तकी वृत्तिको ऐसा बांधना कि, जिससे एकाग्र होकर उस देशमात्रमें रहे, इधर उधर अन्यत्र न जाय इसको 'धारणा' कहते हैं ॥ १ ॥

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ २ ॥

उसमें (धारणामें) प्रत्यक्ष (बुद्धि वा चित्त) की एकाग्रता अर्थात् ध्येयपदार्थही मात्रमें चित्तका मग्न रहना अन्य विषयमें न जाना ध्यान है ॥ २ ॥

दो०—जौन विषयकी धारणा, चितमें करहि बनाय ।
ताहि त्याग चित जाय नहिं, सो दृढ ध्यान कहाय ॥ २ ॥

धारणाके पश्चात् ध्यान होता है. इससे यह कहा है कि, उसमें अर्थात् धारणामें जिस देशविशेषमें चित्त लगाया गया है उसी ध्येयमें (जिसका ध्यान करता है उसमें) प्रत्यय (बुद्धि) का एकाग्र होजाना ध्येयसे भिन्न अन्य विषयमें न जाना ध्यान है ॥ २ ॥

अब सब अंगोंका फलस्वरूप जो समाधि है उसका वर्णन किया जाता है:-

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ ३ ॥

स्वरूप शून्य होनेके समान उसीका अर्थात् ध्यानहीका अर्थ मात्र (ध्येयाकार) भासित होना समाधि है ॥ ३ ॥

दो०—रहत भेद किंचित नहीं, चित हुइ ध्येयाकार ।
लक्षण पूर्ण समाधिके, मुनिवर कहे विचार ॥ ३ ॥

ध्यानही जब अर्थमात्र रूपसे अर्थात् ध्येयके आकारसे भासित होता है, ध्यान करनेसे ऐसा प्रत्यक्ष होता है, यह भेदबुद्धि नहीं रहती

ध्यानका स्वरूप शून्यके समान विदित होता है तब ' समाधि ' कहा जाता है अर्थात् जब ध्येय (इष्टस्वरूप) के प्रेम व ध्यानमें अति मग्न होनेसे ध्यान करनेका अथवा ध्येयसे ध्याताको अपने भिन्न होनेका ज्ञान न रहे अर्थात् यह ज्ञान न हो कि मैं किसीका ध्यान करता हूं इससे ध्यानमें ऐसा देखता हूं यही बोध हो कि, यही साक्षात् स्वरूप है ऐसा विदित होना ' समाधि ' है. ध्यान और समाधिमें इतनाही भेद है कि ध्यानमें ध्यान करनेवालेको अपना व जिसका ध्यान करता है उसका और ध्यान करनेका तीनोंका ज्ञान रहता है. समाधिमें तीनोंके भेदका अभाव होजाता है. केवल ध्येयमात्रही भासित होता है ॥ ३ ॥

त्रयमेकत्र संयमः ॥ ४ ॥

एकमें तीनोंका होना संयम है ॥ ४ ॥

सो०--धारण ध्यान समाधि, तीनोंके संयोगको ।
संयम नाम अबाधि, एकनाम ते ज्ञानत्रय ॥ ४ ॥

एकही विषयमें धारणा ध्यान व समाधि इन तीनोंके होनेको ' संयम ' कहते हैं. गौरव त्यागके लिये व एकही नामसे तीनोंका बोध होनेके लिये तीनोंका नाम ' संयम ' यह योगशास्त्रमें माना है. क्योंकि इन तीनोंके सिद्ध होनेसे अनेक प्रकारकी सिद्धियोंका आगे वर्णन है. प्रत्येकमें वारंवार तीन नामोंके लिखनेमें शब्दोंके अधिक लिखनेकी आवश्यता होनेसे गौरवकी प्राप्ति होती और उससे कुछ फल नहीं होता है ॥ ४ ॥

तज्जयात्प्रज्ञालोकः ॥ ५ ॥

उसके जयसे समाधिप्रज्ञाका प्रकाश होता है ॥ ५ ॥

दो०--संयमके जय होतही, प्रज्ञा करत प्रकाश ।
ताते दृढ संयम करौ, होत सकल भ्रमनाश ॥ ५ ॥

उसके जयसे अर्थात् संयमके जीतनेसे समाधिप्रज्ञा (समाधिकी बुद्धि वा समाधिज्ञान) का निर्मल प्रकाश होता है, जैसे जैसे संयम स्थिर अर्थात् दृढ होता जाता है उसी क्रमसे समाधिप्रज्ञा निर्मल प्रकाशित होती जाती है ॥ ५ ॥

तस्य भूमिषु विनियोगः ॥ ६ ॥

उस (संयम) का भूमियोंमें विनियोग (सम्बन्ध है)॥६॥

सो०–संयमका संयोग, करहि भूमि सवितर्कमें।
प्रज्ञा होत निरोग, चित लागत वैराग्य तव ॥ ६ ॥

संयमका भूमियोंमें विनियोग है. स्थूल व सूक्ष्म पदार्थोंमें क्रमसे सम्प्रज्ञातयोगकी जो चार अवस्था सवितर्का, निर्वितर्का, सविचारा और निर्विचारा नामसे कही गई हैं वेही भूमि हैं. क्रमसे प्रथम स्थूल भूमियोंको संयमसे जीतकर फिर उनके अनन्तर सूक्ष्म भूमियोंके जीतनेकी इच्छा करे और प्रयत्नसे जीते. प्रथम विना स्थूलके साक्षात् किये सूक्ष्मके साक्षात्करनेको समर्थ नहीं होसकता यह अभिप्राय है ॥ ६ ॥

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः॥ ७ ॥

पूर्ववालोंसे ये तीन अन्तरंग हैं ॥ ७ ॥

दो०—धारण ध्यान समाधित्रय, अन्तरअंग सवीज।
इन तीनोंके पूर्वयम, ते वहिरंग अवीज ॥ ७॥

पूर्व पादमें वर्णन किये गये जो यम आदि पांच हैं उनकी अपेक्षा धारणा ध्यान व समाधि ये तीन सम्प्रज्ञातसमाधिके अन्तरंग हैं और यम आदि पांच, बहिरंग हैं, वहिरङ्ग कहनेसे अभिप्राय यह है कि, बाहरके अथवा दूरके अंग हैं व ये तीनों समान विषय (एकही विषयवाले) होनेसे अन्तरके वा विशेष निकटके अंग हैं इससे अन्तरंग हैं ॥७॥

तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ॥ ८ ॥

वे भी निर्बीजके अर्थात् असम्प्रज्ञातसमाधिके बहिरङ्ग हैं ॥ ८ ॥

दो०--तदपि धारणा ध्यान अरु, पुनि समाधि ये तीन।
बहिरंग निर्बीजके, कहत विवेकी चीन ॥ ८ ॥

सबीज जो सम्प्रज्ञातसमाधि है उसके यम आदि पांच बहिरंग हैं और धारणा आदि तीन अन्तरङ्ग हैं. यही पूर्वसूत्रमें कहा है, ये तीन जो सम्प्रज्ञातके अन्तरङ्ग हैं, ये भी निर्बीज समाधिके अर्थात् असम्प्रज्ञातसमाधिके बहिरंग हैं. क्योंकि सब वृत्तियोंके निरोध व परवैराग्य-रूप असम्प्रज्ञातमें विना समय समाधि रहती है. धारणा आदिकी अपेक्षा नहीं होती, इससे असम्प्रज्ञातमें धारणादि भी बहिरंग हैं ॥ ८ ॥

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ॥ ९ ॥

व्युत्थान व निरोध संस्कारोंका क्षय व उदय होता है, निरोध क्षणमें जो चित्तका अन्वय (योग) है वह निरोधका परिणाम है ॥ ९ ॥

दो--व्युत्थानके संस्कार सब, होत व्यतीत निरोध।
प्रगट होत संस्कार सब, जब निरोध कृत बोध ॥
यह परिणाम निरोधकर, वर्णौं महामुनीश।
चितसम्मेलन होत जब, जानहु बिस्वा बीस ॥ ९ ॥

चित्तकी वृत्तियां जब विषयोंमें प्रवृत्त व चंचल रहती हैं तब वह व्युत्थान अवस्थान कहलाता है. असम्प्रज्ञातकी अपेक्षा सम्प्रज्ञात समाधि भी (उसमें चित्तवृत्तियोंका सर्वथा लय नहीं होता इससे) व्युत्थान है, उसका जब परवैराग्य होनेसे निरोध होता है वह निरोध असम्प्रज्ञात है. निरोध

समाधिमें (असम्प्रज्ञात समाधिमें) व्युत्थान संस्कारका क्षय (नाश) व निरोध संस्कारका उदय होता है. उस निरोध क्षणमें जो चित्तका सब वृत्तियोंके रुक जानेके साथ अन्वय (योग) है वह निरोधपरिणाम है. अब यह संदेह हो सकता है कि, व्युत्थान संस्कारके क्षय होनेहीसे निरोध संस्कारका उदय होजायगा. निरोध संस्कारके पृथक् कहनेकी आवश्यकता नहीं है. इसका उत्तर यह है कि, यह संदेह भ्रमरूप है. व्युत्थान व निरोध पृथक् पदार्थ हैं. क्योंकि विषय व उसके भोगकी प्रवृत्ति निवृत्त होजानेपरभी बहुतकाल पीछे उसका स्मरण व उसके भोगकी इच्छा होती है; इससे निरोध संस्कारका उदय रहना जिससे प्रवृत्तिरूप व्युत्थानका रोक बना रहे, आवश्यक व पृथक् पदार्थ व उपासनीय है ॥ ९ ॥

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥ १० ॥

उसकी प्रशांतवाहिता अवस्था अर्थात् सदा शांत बने रहनेकी अवस्था संस्कारसे होती है ॥१०॥

दो०–हुइ निरोध संस्कारते, ताको शांति प्रवाह ।
पुनि न ग्रहत व्युत्थानचित, सदा रहत इक ठाह ॥ १० ॥

उसकी अर्थात् चित्तकी शांत रहनेकी अवस्था निरोधसंस्कारसे होती है. निरोधसंस्कारके प्रबल व दृढ होनेसे व व्युत्थानसंस्कारके सर्वथा क्षय होनेसे निरोधसंस्कारके सदा स्थिर रहनेसे चित्त परमशांत दशामें रहता है ॥ १० ॥

सर्वार्थतैकाग्रतायाः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥११॥

सर्वार्थता व एकाग्रताका क्षय व उदय होना चित्तका समाधिपरिणाम है ॥ ११ ॥

दो०-सम्प्रज्ञात समाधिमें, चितभ्रम नानाअर्थ ।
ताहि कहत सर्वार्थता, क्षयव्युत्थानसमर्थ ॥
उदय होय एकाग्रता, चित्तसर्वारथहीन ।
तब समाधिपरिणामाशुम, जानहु मुनि कह दीन ॥ ११ ॥

असम्प्रज्ञात समाधिमें चित्तकी परिणाम अवस्थाको वर्णन करनेके अनन्तर सम्प्रज्ञात समाधिमें चित्तकी परिणाम अवस्थाको इस सूत्रमें वर्णन किया है कि, चित्तकी सर्वार्थताका अर्थात् चित्तका जो नाना प्रकारके सब अर्थोंमें गमन है उसका क्षय होना व एकाग्रताका उदय होना अर्थात् केवल ध्येय विषयमें चित्तका स्थिर होना चित्तका समाधि (सम्प्रज्ञात समाधि) परिणाम है ॥ ११ ॥

तत[1]ः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः ॥ १२ ॥

उससे (समाधिसे) फिर शांत व उदित प्रत्ययोंका एक समान होना चित्तकी एकाग्रताका परिणाम है ॥ १२ ॥

दो०—एकाग्रता समाधिमें, पुनि पुनि भाषत सोइ ।
जाको ध्यायो चित्तमें, अन्य न भाषत कोइ ॥ १२ ॥

शांत प्रत्यय (बुद्धि वृत्ति वा ज्ञान) अर्थात् जो प्रत्यय हो गया और उदित जो होगयेके पश्चात् उसीके समय अन्य उदय हुआ इन दोनों प्रत्ययोंका चित्तमें समाधिमें अस्त होने वा भ्रष्ट होनेतक विना क्रम बोध होनेके एकही समान विदित होना वा रहना चित्तकी एकाग्रताका परिणाम है अर्थात् चित्तके एकाग्र होनेका फल है ॥१२॥

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ॥ १३ ॥

---

१ ततः पुनरिति राजमार्तण्डभोजवृत्तिसमूहाद्यौ नास्ति ।

इसीके समान भूत व इन्द्रियोंमें धर्मलक्षण व अवस्था परिणामोंको व्याख्यात (व्याख्यान किये गये) समझना चाहिये ॥ १३ ॥

दोहा०--जैसे चित परिणाम त्रय, तैसे भूत इन्द्रीय।
धर्म लक्षण औ आयुको, मानो अपने जीय ॥ १३ ॥

वर्तमान और अतीत कालके सम्बन्धसे घट आदिके नये पुराने होनेके ज्ञानका नाम अवस्थापरिणाम है, इसी प्रकार निरोधलक्षणमें निरोध संस्कार बलवान् और व्युत्थानसंस्कार पुराने तथा दुर्बल जानने चाहियें. यह बलवान् व निर्बल होना अवस्थापरिणाम है, धर्मीका धर्मसे धर्मोंके लक्षणसे लक्षणका अवस्थासे परिणाम होता है. इस प्रकारसे तीन परिणाम जानने चाहियें. तीनों कालमें धर्मी एकरस रहता है और धर्म बारबार बदला करता है, जैसे चित्त परिणाम वर्णन किया गया है, इसी प्रकारसे भूत जो पृथिवी, जल, तेज, वायु व आकाश हैं और इन्द्रियोंमें धर्म लक्षण व अवस्था परिणामोंका होना जानना चाहिये, धर्मीमें जो पदार्थ आश्रित रहता है अथवा जिसके होनेकी धर्मी (द्रव्य) में शक्ति या योग्यता है इसको धर्म कहते हैं, और धर्मके बदलनेको अर्थात् स्थित द्रव्यके पूर्व धर्मके निवृत्त होनेपर अन्यधर्म उत्पन्न होनेको परिणाम कहते हैं, जैसे मिट्टीके पिण्डरूप धर्मके नाश होनेपर घटरूप धर्म उत्पन्न होता है इसी प्रकारसे चित्तके व्युत्थान धर्मके नाश होनेपर निरोध प्रगट होता है, यह धर्म परिणाम है और यह कार्यरूप है. काल भेद होनेको लक्षण परिणाम कहते हैं. लक्षण परिणाममें अनागत अध्वा, वर्तमान अध्वा और अतीत अध्वा ये तीन भेद होते हैं. अध्वा शब्दका अर्थ यहां कालका है, अनागत अध्वासे भविष्यतकाल व वर्तमानसे वर्तमान और

अतीतसे भूतकाल जानना चाहिये. धर्मका प्रथम न प्राप्त होना अनागत अध्वा है, धर्मका वर्तमान होना वर्तमान अध्वा है और वर्तमान होकर निवृत्त होना अतीत अध्वा है, यह लक्षणपरिणाम है । अनागत लक्षण वर्तमान व अतीत धर्मोंसे भिन्न होना विदित होता है. तथा वर्तमान अनागत व अतीतसें और अतीत अनागत व वर्तमानसे इसी प्रकारसे व्युत्थानमें निरोधका अनागत अध्वा है निरोधके वर्तमानमें व्युत्थानका अतीत अध्वा और व्युत्थान तथा निरोधके वर्तमानमें वर्तमान अध्वाका होना लक्षमणपरिणाम है. वर्तमान और अतीत कालके संबंधसे व रूपभेदसे घट आदिके नये पुराने होनेका ज्ञान अवस्थापरिणाम है, अथवा निरोधलक्षणमें निरोधसंस्कार बलवान् व व्युत्थानसंस्कारदुर्बल होते हैं यह बलवान् व निर्बल व निर्बल होना अवस्थापरिणाम है, धर्मीका धर्मोंसे (धर्मद्वारा), धर्मोंका लक्षणसे लक्षणका अवस्थासे परिणाम होता है. इस प्रकारसे धर्म धर्मी भेदसे धर्मलक्षण अवस्थारूप तीन तरहका परिणाम होता है, तीनों कालमें धर्मी स्वरूपमात्र एकही रहता है, धर्मीमें जो वर्तमान धर्म हैं उसीका अतीत व अनागतमें अन्यथा भाव होता है. धर्मी (द्रव्य) का नहीं होता, जैसे सुवर्णका कोई आभूषण तोडकर अन्य प्रकारका आभूषण बनानेसे दूसरे तरहका आकार भूषण होता है व दूसरा नाम कहा जाता है, परंतु सुवर्ण द्रव्यका अन्यभाव नहीं होता, कोई यह शंका करते हैं कि, यह कहना कि धर्मीमें अन्यथाभाव नहीं होता धर्ममें होता है, यह पदार्थ नहीं है, क्योंकि धर्मोंसे भिन्न धर्मी वा द्रव्य कुछ नहीं है आकार रूप आदि धर्म व अवस्थाभेदसे जो पदार्थ होता है वही कोई नाम विशेषसे कहा जाता है, धर्मी नामसे नहीं कहा जाता, यथा सुवर्णमें जो जो रूप आकार आदि प्रत्यक्षसे

होते हैं सब धर्म हैं, इन धर्मोंके परिणामसे जो अन्य आभूषण वा भाजन बनता है वह नाम विशेषसे कहा जाता है, सुवर्ण नामसे नहीं कहा जाता, और रूप आकार आदि धर्मोंसे भिन्न धर्मीका रहना सिद्ध नहीं होता, इससे पूर्वापर अवस्था धर्मभेदसे धर्मोंके स्वरूपमें भेद हो जानेसे अनेक पदार्थ होते हैं, धर्मोंके समूह व अवस्था विशेषसे पृथक् (भिन्न) धर्मी कुछ नहीं मानना चाहिये. इसका उत्तर यह है कि, यह शंका युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा मानना इस हेतुसे ऐकान्तिक अर्थात् दोष-रहित सर्वथा यथार्थ नहीं हो सकता कि जो विना धर्मीके धर्ममात्रही माना जावे तो धर्मोंके परिणाम होनेसे व्यक्तिरूप कार्य विशेष होते हैं. और कार्यरूप व परिणामी (बदलनेवाले) धर्म सब अनित्य विदित होते हैं, इससे तीनों लोकोंका नाश व असत् होना मानना होगा, जो यह कहा जाय कि, असत् व अनित्यही मानेंगे क्या दोष है ? तो अनित्यता माननेमें भी ऐकान्तिक न होनेका दोष है अर्थात् सर्वथा विनाश व अभावको भी नहीं मान सकते, क्योंकि जो असत् है उससे कोई कार्य वा पदार्थ अथवा क्रियाका होना संभव नहीं है, विना सत्कारणके कुछ कार्य नहीं हो सकता. जगतमें ऐसे पदार्थ जो प्रत्यक्षके विषय हैं व क्रियाका होना विदित होता है, इससे इन कार्य पदार्थोंका कारण द्रव्य वा धर्मी जो धर्मोंके परिणाम होने (बदलने) परभी धर्मोंका आश्रयरूप बना रहता है. सत् व मानने योग्य है. प्रश्न–जो धर्मीका नाश नहीं होता तो घटको चूर्ण कर डालने व पीस डालने व उसके अणु वायुमें उडजाने तथा अग्निमें जल जानेपर धर्मी कुछ नहीं रहता और जो रहता है तो उसका प्रत्यक्ष होना चाहिये सो नहीं होता । उत्तर–नाश होनेपर भी धर्मी रहता है. सूक्ष्म होनेके कारणसे चाहे साक्षात् नहीं दीख पडता परन्तु धर्मीका नाश नहीं होता यह अनुमानसे सिद्ध होता है. केवल धर्मोंका परिणाम होता है.

वर्तमान धर्मोंका अतीत (नष्ट) होजाना जैसे ऊपर सुवर्ण भाजन व कुण्डल आदि आभूषण बननेमें कहा गया है लक्षण परिणाम है. वर्तमान धर्मोंके न रहनेपरभी धर्मी अन्य धर्मोंसहित बना रहता है. प्रश्न-जब धर्म अतीत लक्षण सहित होता है तब वर्तमान अनागत संयुक्त नहीं होता; जब अनागत संयुक्त होता है तब अतीत व वर्त्तमान संयुक्त नहीं होता; जब वर्त्तमान संयुक्त होता है तब अतीत अनागत संयुक्त नहीं होता, धर्ममें तीनों लक्षणोंका योग होनेसे तीनोंको एक संगभी होना चाहिये और जो नहीं होते तो तीनोंका मानना यथार्थ नहीं है. उत्तर-धर्ममें तीनकालसम्बंधी तीन लक्षणका होना यथार्थ है. वर्तमानहीसे अतीत अनागत कालका होना धर्ममें सिद्ध होता है, क्योंकि असत्की उत्पत्ति व सत्का नाश नहीं होता, धर्मीमें धर्मके सत् होनेपर लक्षणभेदभी कहने योग्य हैं, वर्त्तमान समयमें अतीत व अनागतका होना आवश्यक नहीं है. जैसे राग क्रोध ये चित्तके धर्म हैं परन्तु रागकालमें क्रोध व क्रोधकालमें राग विद्यमान नहीं होता, इसी तरह तीनों लक्षणोंका एक कालमें होना संभव नहीं है, वे क्रमसे होते हैं, ये धर्मके तीन अध्वा (त्रिकाल सम्बन्ध) हैं, धर्मीके नहीं हैं, धर्म तीन अध्वाओंसे लक्षित व अलक्षित अवस्थामें प्राप्त होकर द्रव्यभेदरहित अवस्थाभेद मात्रसे अन्य अन्य भावसे देख पडते हैं, जैसे एकही स्त्री माता कन्या भगिनी व पत्नी भावसे स्थान व अवस्था भेदसे कही जाती है. जो यह संशय हो कि धर्मीको नित्य मानना और उसके नाश होनेमें अवस्थापरिणाम मानना युक्त नहीं है. उत्तर-यह है कि, धर्मीके नित्य होनेपरभी धर्मोंके प्रकट व अप्रकट होनेकी विचित्रतासे धर्मोंका उत्पन्न होना व नाश होना कहा जाता व माना जाता है ॥ १३ ॥

शान्तोदितोऽव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ॥१४॥

जो शान्त उदित और अव्यपदेश्य धर्मोंमें अर्थात् भूत वर्तमान और भविष्यत् धर्मोंमें अन्वयी है अर्थात् सामान्य विशेषरूपसे रहनेवाला सब धर्मोंका सम्बन्धी है वह धर्मी है॥१४॥

सो०—तीन कालके मांहि, धर्मी अनुगत धर्मके।
कबहुँ न सो विलगाहि, जैसे घटते मृत्तिका ॥ १४ ॥

जो भूत वर्तमान और भविष्यत् धर्मोंमें सामान्य व विशेषरूपसें अन्वयी है अर्थात् जिसका सम्बन्ध किसी कालवाले धर्मोंसे भिन्न नहीं होता ऐसा धर्मोंका सम्बन्धी है, वह धर्मी है. प्रश्न–जो धर्मी न माना जावे तो क्या हानि है ? उत्तर–जो धर्मीको न माने अन्वय (धर्मीका सम्बन्ध) रहित धर्ममात्र ही माना जावे तो भोगका अभाव होना चाहिये, क्योंकि धर्मोंके परिणाम होनेपर औरके ज्ञानसे किये हुए कर्मोंके फल भोग करनेका और दूसरा अधिकारी नहीं होसकता तथा स्मृतिका अभाव होजाना चाहिये अर्थात् जो धर्म अतीत (व्यतीत)

---

१ शांत शब्दका अर्थ व्यापारसे निवृत्त होजानेका है, जो होजाता है वही भूत कहा जाता है, इससे शान्त शब्दका अर्थ भूत व उदित शब्दका अर्थ उदयको प्राप्त है, इसके अर्थसे वर्तमानकाल होनेका बोध होता है. इससे उदित शब्दका अर्थ वर्तमान साधारणसे विदित होता है परन्तु अव्यपदेश्य शब्द जो भविष्यत् अर्थवाचक सूत्रमें कहा है उसके अर्थके साथ भविष्यत् कालका सम्बन्ध ज्ञात न होनेसे सन्देह होता है; क्योंकि अव्यपदेश्य उसको कहते हैं जो कहने योग्य न हो, इसका समाधान यह है कि, पृथिवी आदि धर्मियोंमें विशेष रूप आकार आदि उनके धर्म जो वर्तमानमें प्रकट नहीं हैं परन्तु उनसे प्रकट होनेके योग्य हैं केभी शक्तिरूपसे उनमें स्थित हैं; क्योंकि जो न हों तो वायुसे घट न वन सकनेके समान कभी उनसे वे प्रकट न होसकें परन्तु जबतक नहीं होते तबतक वे कहने योग्य नहीं होते, इससे होनेवाले (भविष्यत्) धर्मोंको अव्यपदेश्य नामसे कहा है ।

होगये उनके समयमें जो जाना गया उसका ज्ञान अब वर्तमान धर्मोंमें न होना चाहिये, क्योंकि औरके देखे या जानेहुएका स्मरण औरको नहीं होता, पूर्व देखे या जाने हुए वस्तुके स्मरणसे यह विदित होता है कि धर्मोंके अन्यथा होजानेपरभी जो स्मरण करता है वह अन्वयी धर्मी है. अन्वयरहित धर्मही मात्र नहीं है. यह धर्मधर्मीभेद चेतनमें तथा जड पदार्थमें दोनोंमें विचारने व निश्चय करने योग्य है ॥ १४ ॥

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ॥ १५ ॥

क्रमका अन्य होना परिणामके अन्य होनेमें हेतु (कारण) है ॥ १५ ॥

दो०-क्रमकी जो है अन्यता, हेतु अन्य परिणाम ।
दृढ कर जानहु चित्तमें, दृष्टादृष्ट सुनाम ॥ १५ ॥

यह संशय निवारणके लिये कि, एक धर्मीमें एकही परिणाम होना चाहिये. बहुत परिणामोंके होनेमें क्या कारण है ? सूत्रमें यह वर्णन किया है कि, क्रमका अन्य होना परिणामके अन्य होनेका हेतु है अर्थात् क्रमका और और होते जाना परिणामके और और होने अर्थात् बहुत परिणामोंके होनेका कारण है. जैसे मिट्टीका पिण्ड, मिट्टीके कपाल, मिट्टीके कण आदि एकही मिट्टीके क्रम भेद होनेपर पिण्ड घट आदि बहुत परिणाम होजाते हैं. पूर्वसे अपर अवस्थामें होनेको समनन्तर कहते हैं, जो जिसके धर्मका समनन्तर है वह उसका क्रम कहा जाता है. यथा-पिण्डसे घटका होना यह धर्म परिणामका क्रम है. घटके अनागत भावसे (भविष्यत् भावसे) वर्तमान भाव क्रम है और पिण्डके वर्तमान भावसे अतीत भाव क्रम है यह लक्षण परिणामका क्रम है, अतीत भूतका क्रम नहीं होता, क्योंकि उसमें पूर्व भाव नहीं है, उससे पूर्व

होनेका अभाव है, घटका नयेसे पुराना होना अवस्था परिणामका क्रम है, यह धर्म लक्षणविशिष्ट तीसरा परिणाम है. चित्तके परिणाम दो प्रकारके हैं. एक परिदृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष जैसे काम सुख आदि, दूसरे अपरिदृष्ट अर्थात् अप्रत्यक्ष या परोक्ष जो आगम प्रमाण व अनुमानसें जाने जाते हैं. अपरिदृष्ट परिणाम सात तरहका होता है. एक निरोध अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि अवस्था जिसमें सब वृत्तियोंका निरोध होता है. दूसरा कर्म (पुण्य व पाप) जिसका सुख दुःख भोग होनेसें अनुमानद्वारा और शास्त्रसे प्रमाण होता है. तीसरा संस्कार जिसका स्मृतिसे अनुमान होता है. चौथा परिणाम जो चित्तके चंचल व त्रिगुणरूप होनेसे प्रतिक्षणमें अनुमान किया जाता है. पांचवां जीवन जो श्वास व प्रश्वास प्राणधारणसे अनुमान किया जाता है| छठा चेष्टा क्रिया सातवां शक्ति जो कार्योंकी सूक्ष्म अवस्थारूप चित्तका धर्म हैं व स्थूल कार्योंसे उसके कारणरूप होनेका अनुमान होता है ॥ १५॥

अब संयमके फलको वर्णन करते हैं:—

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ॥ १६ ॥

तीन परिणामोंके संयमसे अतीत व अनागत (भूत व भविष्यत्) का ज्ञान होता है ॥ १६ ॥

दो०—धर्मलक्षणा आयुमें, संयम दृढ कर जोइ।
भूत अनागत ज्ञानको, सहजहि पावत सोइ ॥ १६ ॥

धारणा ध्यान व समाधि इन तीनोंके होनेको 'संयम' कहते हैं. संयमके साधनसे धर्म लक्षण व अवस्था तीन परिणामोंके साक्षात् होजानेसे रजोगुण व तमोगुणरूप मल दूर होकर व सत्त्वगुणका प्रकाश उदय हो जाता है और तिससे भूत व भविष्यत्का ज्ञान होता है ॥ १६ ॥

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्सङ्करस्तत्प्रविभाग-संयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम् ॥ १७ ॥

शब्द अर्थ व प्रत्ययों (बोध) के परस्परका अध्यासरूप (स्मरण स्वभाववाला) संकेतसे जो परस्परका अतियोग (मेल) है उसके अतिविभाग (भेद) के संयमसे सब प्राणियोंके शब्दका ज्ञान होता है ॥ १७ ॥

दो०--शब्द अर्थ औ ज्ञानको, भावहेतु संकेत ।
ताके भेदाभेदमें. संयम कर चित देत ॥
दृढकर संयमके किये, होत शब्दकर ज्ञान ।
प्राणिमात्रके शब्दमें, होत अर्थको भान ॥ १७ ॥

शब्द अर्थ व ज्ञानके परस्परका स्मरण स्वभाव या हेतुरूप एक संकेत विशेष शब्द व अर्थोंके साथ है जिससे कि, शब्दविशेषके सुननेसे उसके अर्थविशेषका स्मरण व ज्ञान होता है और इन तीनोंमें ऐसा मेल वा योग है कि, इनका परस्पर पृथक् होना विदित नहीं होता. यथा–गो शब्द गौ अर्थ और 'यह गौ है' इस ज्ञानके होनेमें तीनके पृथक् होनेका बोध नहीं होता है. ऐसे इन तीनोंके योगके विभागको इस प्रकारसे योगी संयम करे कि, शब्दका अर्थके साथ केवल माने हुए संकेतका कि, इस अर्थविशेष (पदार्थ) का यह नाम है, सम्बन्ध है और कुछ योग नहीं है, क्योंकि शब्द आकाशका गुण (धर्म) है. व श्रोत्र इन्द्रियका विषय है, व मुखद्वारा उर, कण्ठ, जिह्वामूल, दन्त, नाक, ओंठ, मूर्धा और तालु इन आठ स्थानोंसे ध्वनि परिणामसे बनेहुए अक्षरोंका उच्चारण होता है और कई अक्षरोंसे मिला हुआ एक पद वा नाम होता है. उस पदके उच्चारण करनेमें पूर्व पूर्वके अक्षर उत्तरवाले अक्षरके उच्चारण करते नाश होते जाते हैं.

ऐसे अक्षरोंसे अर्थके साथ योग नहीं होसकता, न अर्थके वाचक हैं तथा अक्षरोंके मेलसे बना हुआ पदभी अंतवर्ण (अक्षर) के उच्चारण समाप्त होतेही नष्ट होजानेसे अर्थवाचक नहीं है. न उसका आपसे कुछ योग होना अंगीकार होसकता है. इससे शब्द अर्थसे भिन्न है. गो शब्द सुननेसे जो गौ अर्थका ज्ञान होता है वह शब्द व अर्थ दोनोंसे भिन्न है, क्योंकि जो गो शब्द व गो शब्दवाच्य अर्थका संकेत नहीं जानता उसको गौ शब्दसे गौका ज्ञान नहीं होता. इससे शब्दसे भिन्न है और जो जानता है कि, यह गौ है उसके नाश होनेपर भी उसके स्वरूपको स्मरणसे जानता है, इससे अर्थसे भिन्न है. इस प्रकारसे विभाग तथा शब्द अर्थ व ज्ञानके लक्षण व कर्ता क्रिया कारक नाम आख्यातोंके विभागमें संयम करनेसे संयमी योगी पशु पक्षी आदि सब प्राणियोंके शब्दको जानता है कि, ये इस अर्थको कहते हैं. कर्ता क्रिया कारक नाम आख्यातके भेद वर्णन करनेसे कुछ लाभ न समझकर संक्षेपसेही वर्णन किया है; क्योंकि यह व्याकरणका विषय है और व्याकरण जाननेवालोंके समझने योग्य व उन्हींको उपयोगी हो सकता है. भाषा जाननेवालोंको उससे कुछ फल नहीं होता ॥ १७ ॥

संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम् ॥ १८ ॥

संस्कारोंके साक्षात् करनेसे पूर्वजन्मका ज्ञान होता है ॥ १८ ॥

दो०–संस्कार संयम किये, साक्षात्कार प्रधान।
तवही पूरब जन्मकी, जाति होत सब भान ॥
जैसे जैगीषव्य ऋषि, साक्षात्कार संस्कार।
दश कल्पनकी योनि निज, जानी सुगम विचार ॥ १८ ॥

दो प्रकारके संस्कार–एक वासनारूप ज्ञानसे उत्पन्न स्मृतिके हेतु तथा अविद्या संस्कार अविद्या आदि पूर्वोक्त (पहिले कहे हुए)

क्लेशोंके हेतु, दूसरे धर्म अधर्मरूप जन्म आयु और भोगके हेतु पूर्व जन्मोंमें हुए निरोध शक्ति व जीवन धर्मवाले चित्तके धर्म हैं. ये संस्कार जो अप्रत्यक्ष हैं वेद प्रमाण और अनुमानसे जाने जाते हैं. इनमें संयम करनेसे संस्कार साक्षात् करनेको योगी समर्थ होता है और विना देश काल निमित्त रूपोंके अनुभव इनका साक्षात्कार नहीं होता. इससे देश काल अनुभवसहित संयमसे संस्कारोंके साक्षात् करनेसे पूर्व जन्मका ज्ञान होता है. इसी प्रकारसे परके संस्कार साक्षात् करनेसे संयमी (योगी) को परके पूर्वजन्मका ज्ञान होता है. यहां संस्कार साक्षात् करनेमें जैगीषव्य ऋषिका आख्यान (इतिहास) जानने को योग्य है. उसको यहां वर्णन करते हैं—महात्मा जैगीषव्य ऋषिको संस्कार साक्षात् करनेसे दशकल्पमें जो देवता मनुष्य तिर्यक् योनियोंमें उनके जन्म हुए थे उन सबका ज्ञान विवेकज ज्ञानसे उदय हुआ. उनसे आटव्य ऋषिने पूछा कि, हे भगवन् ! नाना प्रकारके जन्म जो देव मनुष्य तिर्यक् योनियोंमें अपने दशकल्पमें धारण किये और गर्भसे उत्पन्न होनेका दुःख भोग करते देव आदि योनियोंमें सुख व दुःख भोग किया है इनमेंसे सुख या दुःख क्या अधिक प्राप्त हुआ और सुख किस योनिमें है ? जैगीषव्यने कहा कि, जितनी योनियोंमें मैं वारंवार उत्पन्न हुआ उनमें नरक तिर्यक् योनिमें तो दुःख अधिक है ही परन्तु ऐसा किसी योनि देवता आदिमें नहीं हुआ जिसमें दुःख न प्राप्त हुआ हो, सब योनियोंमें दुःख है. आटव्यने कहा कि, 'प्रकृति वश करनेसे जो सिद्धियां प्राप्त होती हैं जिससे संकल्प वा इच्छामात्रहीसे दिव्य भोग प्राप्त होते हैं वह भी दुःख है ?' जैगीषव्यने कहा कि, 'लौकिक सुखकी अपेक्षा प्रकृति वश करनेसे सिद्धियोंके प्राप्त होनेसे जो सुख होता है वह अतिसुख है, परन्तु मोक्षकी अपेक्षा

वह भी दुःख है, क्योंकि दुःखरूप जो तृष्णातन्तु है वह नहीं टूटता, तृष्णातन्तुके टूटनेसे अर्थात् सर्वथा तृष्णाके निवृत्त हो जानेसे मुक्त पुरुष प्रसन्न होकर अति उत्तम सुखको प्राप्त होता है अर्थात् केवल मोक्षही सुखरूप है ' ॥ १८ ॥

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥ १९ ॥

प्रत्यय (चित्तकी वृति) के संयमसे परके चित्तका ज्ञान होता है ॥ १९ ॥

दो०—परके चितकी वृतिमें, कर संयम चित साध।
परके चितके ज्ञानको, पावत तब निर्वाध ॥ १९ ॥

प्रत्ययके संयमसे प्रत्यय साक्षात् करनेसे परके चित्तका ज्ञान होता है, परन्तु चित्तकी वृत्तिमात्रका ज्ञान प्रत्ययके संयमसे होता है. चित्तके आलम्बनका ज्ञान नहीं होता अर्थात् चित्त रागको प्राप्त है इत्यादि चित्तकी वृत्तियांमात्रका ज्ञान होता है. प्रत्ययमात्रके संयमसे यह विदित नहीं हो सकता कि, चित्त किस विषयमें स्थित है; क्योंकि विषयका संयम नहीं किया गया. वृत्तिमात्रके संयमसे पर चित्तकी वृत्तियोंका ज्ञान होता है ॥ १९ ॥

न च तत्साऽऽलम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात् ॥२०॥[1]

योगीको दूसरेके मनका सामान्य ज्ञान होना इस सूत्रमें बतलाया गया है ॥ २० ॥

योगी यदि यह जानना चाहे कि, अमुक मनुष्यका मन कैसी अवस्थामें है ? तो इतना मात्र जान सकता है कि, किसी आधारमें लगाहुआ है, परन्तु यह नहीं जान सकता कि, अमुक विषयमें आसक्त है. क्योंकि दूसरेके ज्ञानका आलम्बन योगीके चित्तका आश्रय नहीं है. केवल दूसरेका सामान्य ज्ञानमात्र आलम्बन है ॥ २० ॥

---

१ इदं भाष्यमेव, न सूत्रमिति विज्ञानभिक्षुः ।

कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशा-संप्रयोगेऽन्तर्द्धानम् ॥ २१ ॥

शरीररूपमें संयमसे उसकी ग्राह्यशक्तिके रोकनेपर नेत्रके प्रकाशका विषय न होनेसे अर्थात् नेत्रके प्रकाशका योगीके शरीरके साथ योग न होनेसे अन्तर्द्धान होता है ॥२१॥

दो०—काया और स्वरूपमें, संयम दृढ कर होय।
ताहि ग्रहणकी शक्ति जो, रोकहि मुनिवर सोय ॥
परको नेत्रप्रकाश जब, परत न योगी काय।
नहिं देखत तब रूपको, अन्तधान कहाय ॥
ज्ञान होत परचित्तको, परचित संयम देत।
विषयन कर संयम नहीं, चित्त विषय नहिं लेत ॥
परचितमें संयम किये, होत ज्ञात परचित्त।
विषयनके संयम भये, ज्ञानविषयकर नित्त ॥
कर आलम्बनचित्त जिह, तिहँकर उपजत ज्ञान।
चिततें परचित ज्ञान लह, विषय विषयकर मान ॥ २१ ॥

शरीरके रूपमें संयमसे उसकी ग्राह्य शक्ति जो अन्यके नेत्रोंसे देखाजाता है उसके रोकनेपर नेत्रके प्रकाशका विषय न होनेसे योगीको अन्तर्द्धानकी शक्ति प्राप्त होती है. इसी प्रकारसे शब्द स्पर्श रस गंधोंमें संयम करनेसे और उनकी ग्राह्य शक्तियोंके रोकनेसे कर्ण जिह्वा त्वचा नासिका इन्द्रियोंके ज्ञानका शब्द आदिकोंके साथ योग न होनेसे शब्द आदिका अंतर्द्धान होता है अर्थात् योगीको रोकनेसे दूसरेके शब्द आदिका ज्ञान नहीं होता ॥ २१ ॥

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमा-दपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ॥ २२ ॥

---

१ [illegible] इति पाठान्तरम्।

सोपक्रम व निरुपक्रम भेदसे दो प्रकारका जो कर्म है उसके संयमसे अथवा अरिष्टोंसे मरनेका ज्ञान होता है ॥ २२ ॥

दो०--सोपक्रम निरुपक्रम, कर्म कहे द्वै भांति ।
संयम तिनमें करतही, अपनो मरण दिखात ॥
सोपक्रमते शीघ्रही," निरुपक्रमकर देर ।
अथवा तीन अरिष्टतें, मरणज्ञानको हेर ॥ २२ ॥

कर्म दो प्रकारके होते हैं, एक वह जिसका फल जल्दीं होता है जैसे भीगा हुआ कपडा घाममें फैलाया हुआ जल्दी सूखता है उसको 'सोपक्रम' कहते हैं. दूसरा जिसका फल बहुत काल पीछे होता है जैसे लपेटा हुआ भीगा कपडा छायामें देरसे सूखता है उसको 'निरुपक्रम' कहते हैं, इन कर्मोंके संयमसे मरनेका ज्ञान होता है. सूत्रमें जो एक-वचन कहा है कि कर्मके संयमसे मरनेका ज्ञान होता है उसका अभि-प्राय यह है कि दोनों प्रकारके अनेक कर्म जो जन्मसे लेकर मरनेतक होते हैं उन सब कर्मोंका समुदायरूप एक सामान्य कर्म जिसको पूर्वमें (पहिले) एकभविक नामसे जन्म और आयुका कारण होना वर्णन किया है उन सब कर्मोंके समुदायरूप एकभविकको यह कहा है कि उसके संयमसे मरनेका ज्ञान होता है और अरिष्टोंसे भी मरनेका ज्ञान होता है. अरिष्टोंसे मरनेका ज्ञान अयोगियोंको सब मनुष्योंको होता है और होसकता है. अरिष्ट तीन प्रकारके होते हैं—आध्यात्मिक जैसे कानोंके छिद्र अंगुलीसे बंद करनेसे जो प्राणवायुका शब्द सुन पडता है उसका न सुनना- दूसरे आधिभौतिक यमदूतोंका अथवा मरेहुए पितरोंका अकस्मात् देखनां. तीसरे आधिदैविक अकस्मात् स्वर्ग वा सिद्धोंका देखना, इत्यादि अरिष्टोंसे मरनेका ज्ञान होता है ॥ २२ ॥

मैत्र्यादिषु बलानि ॥ २३ ॥

मित्रता आदिमें बल होते हैं ॥ २३ ॥

दो०-मैत्री आदिमें किये, संयम दृढ़कर साध ।
बल बाढत ताको विपुल, मिटत सकल जगव्याधि ॥ २३ ॥

मैत्री, करुणा व मुदिता इनमें संयम करनेसे मित्रता आदि बल योगीको प्राप्त होते हैं. प्राणियोंमें सुहृद्भावना करनेसे मित्रताबल दुःखित प्राणियोंमें करुणा (दया) भाव करनेसे करुणाबल, धर्मवान् पुरुषोंमें आनन्दभाव रखनेसे मुदिता (आनन्द होना) बल योगियोंको प्राप्त होता है. चित्तकी भावनासे समाधि होती है. अधर्मीमें योगीके चित्तकी उदासीनता रहती है. इससे संयम न होनेसे कुछ बल नहीं होता ॥ २३ ॥

बलेषु हस्तिबलादीनि ॥ २४ ॥

बलोंमें (बलोंमें संयम करनेसे) हाथीके बल आदि होते हैं ॥ २४ ॥

दो०-बलमें संयमके किये, हस्तीसम बल होय ।
गरुडवायुबलमें करे, तिनसमही बल सोय ॥ २४ ॥

बलोंमें संयम करनेसें हाथी आदिके समान बल योगीमें प्राप्त होते हैं अर्थात् हाथीके बलमें संयम करनेसे हाथीका बल, गरुडके बलमें संयम करनेसे गरुडके समान बल, वायुके बलमें संयम करनेसे वायुके समान बल होता है इत्यादि ॥ २४ ॥

प्रवृत्त्यालोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहित-विप्रकृष्टज्ञानम् ॥ २५ ॥

प्रवृत्तिके प्रकाशको प्रेरणा करनेसे सूक्ष्म व्यवहित (जो किसीके आडमें है) और दूरका ज्ञान होता है ॥ २५ ॥

दो०--प्रथम पादमें जो कही, ज्योतिष्मती प्रवृत्ति ।
ताको कर व्यवहार सब, सूक्षम भासत चित्त ॥ २५ ॥

ज्योतिष्मती प्रवृत्ति जो पहले वर्णन की गई है उसका प्रकाश उसकी ज्योति है. उसको योगी संयमसे जीतकर सूक्ष्ममें या जो वस्तु किसीके व्यवधान (आड) से छिपी है उसमें या दूर देशमें प्रेरणा करनेसे सूक्ष्म आदिकोंको जानता है. सूक्ष्म जैसे परमाणु आदि, व्यवहित पृथिवीमें गडा हुआ धन आदिको जानता है और दूर जैसे मेरु आदि पर्वतमें रसायन हैं उनको जानता है ॥ २५ ॥

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ॥ २६ ॥

सूर्यमें संयम करनेसे भुवनका ज्ञान होता है ॥ २६ ॥

दो०--सूरजमें संयम करत, भुवन ज्ञान त्रय होय ।
लोक चतुर्दश नरक सब, दीख परत जस जोय ॥ २६ ॥

सुषुम्णानाडी द्वारा अपने हृदय व आकाशमें एकरूप तेजोमय अपने तेज व किरणोंसे भूलोक भुवर्लोक व स्वर्लोक और सब भुवनोंका प्रकाश करनेवाला जो सूर्य है, उसके संयमसे योगीको सब भुवनोंका ज्ञान होता है, सब भुवन साक्षात् होते हैं अर्थात् दीखने लगते हैं. भुवन कौन कौन हैं और उनका क्या व्याख्यान है ? इसके वर्णन करनेका सूत्रके अर्थके साथ कुछ प्रयोजनविशेष नहीं है. भुवनोंके वर्णनमें बहुत विस्तार होगा; यहांतक कि एक अन्य ग्रन्थकी रचना होजानी संभव है इससे नहीं लिखा; सब भुवनोंका ज्ञान सूर्यमें संयम करनेसे होता है यह सूत्रका मुख्य अर्थ लिखा गया है. भुवनोंका व्याख्यान श्रीव्यासजीकृत भाष्य वा अन्य ग्रन्थोंसे जानना चाहिये ॥ २६ ॥

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥ २७ ॥

चन्द्रमें (चन्द्रमें संयम करनेसे) ताराव्यूह (तारोंकी रचना) का ज्ञान होता है ॥ २७ ॥

दो०—चन्द्रमें संयम किये, होत व्यूहकर ज्ञान ।
जहँ जहँ तारा वसत हैं, लेत सबहि पहिचान ॥ २७ ॥

चन्द्रमामें संयम करनेसे तारामण्डल वा तारोंकी रचनाका ज्ञान होता है. यहां यह सन्देह होता है कि, जब सूर्यके संयमसे सब भुवनोंका ज्ञान पृथक् होता है तो ताराव्यूहका भी हो जायगा, चन्द्रके संयमका वर्णन करनेसे क्या प्रयोजन था ? उत्तर यह है कि, सूर्यके प्रकाशमें तारागणोंका प्रकाश मलिन होनेसे वह विदित नहीं होता, इससे ताराव्यूहका ज्ञान होनेके लिये यहाँ चन्द्रमामें संयम करनेको कहा है ॥ २७ ॥

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥ २८ ॥

ध्रुवमें संयम करनेसे उनकी गतिका ज्ञान होता है ॥२८॥

दो०—ध्रुव निश्चलकी ज्योतिमें, संयम कर मुनि कोइ ।
तारागणकी चालको, सुगम लेत सो जोइ ॥ २८ ॥

ध्रुवमें संयम साधन करनेसे उनकी अर्थात् उक्त तारागणोंकी गतिका ज्ञान होता है ॥ २८ ॥

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥ २९ ॥

नाभिचक्रमें संयम साधनसे कायव्यूह (शरीरकी रचना) का ज्ञान होता है ॥ २९ ॥

दो०—नाभिचक्रमें योगिजन, संयम कर चितलाय ।
कायव्यूहको ज्ञान सब, प्रकट होत जिय आय ॥ २९ ॥

नाभिचक्रमें संयम साधन करनेसे शरीरकी रचना जो वात, पित्त, कफ, त्वचा, लोह, मांस, अस्थि (हड्डी), मज्जा

(चरबी), वीर्य आदि धातुओंसे संयुक्त है उसका ज्ञान होता है ॥ २९ ॥

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥ ३० ॥

कण्ठकूपमें संयमसे भूख पियासकी निवृत्ति होती है॥ ३०॥

दो०--कण्ठकूप संयम करे, भूख प्यास नहिं होत ।
उदर रहत परिपूर्ण तव, होत वंद तिहिं सोत ॥ ३० ॥

जिह्वाके नीचे तन्तु, तन्तुके नीचे कण्ठ व कण्ठके नीचे कूप है उसमें संयम सिद्ध होनेसे भूँख व पियासकी निवृत्ति होती है ॥ ३० ॥

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ॥ ३१ ॥

कूर्मनाडीमें संयम करनेसे स्थिरता होती है ॥ ३१ ॥

दो०--नाभिमाहि जे कूर्म है, तामें संयम लेत ।
पूरण स्थिरता चित्तकी, स्वाभाविक गहि देत ॥ ३१ ॥

कूपके नीचे हृदयमें कूर्मनाडी अर्थात् कछुआके आकार (रूप) नाडी है उसमें संयम साधनसे स्थिरता प्राप्त होती है ॥ ३१ ॥

मूर्द्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥ ३२ ॥

मूर्द्धज्योतिमें सिद्धोंका दर्शन होता है ॥ ३२ ॥

दो०-- मूर्धामें इक ज्योति है, तिहि संयम कर लेत ।
तीन लोकके सिद्ध सब, आय दर्श तिहिं देत ॥ ३२ ॥

शिर कपालके (भीतर) छिद्र है वह प्रकाशमान ज्योतिरूप है, उसको मूर्द्धज्योति कहते हैं. उसको सुषुम्णानाडी भी कहते हैं, उसमें संयम करनेसे पृथिवी और आकाशमें जो सिद्ध विचरते हैं व दृष्टिमें नहीं आते वे प्रत्यक्ष होते हैं अर्थात् योगीको उनका दर्शन होता है ॥ ३२॥

प्रातिभाद्वा सर्वम् ॥ ३३ ॥

अथवा प्रातिभसे सब ज्ञान होता है ॥ ३३ ॥

दो०-अथवा प्रातिभ ज्ञानते, पुरुष होत सर्वज्ञ ।
तीन काल तिहुँ लोकमें, सबको जानत सुज्ञ ॥ ३३ ॥

विवेकजज्ञान (विवेकसे उत्पन्न ज्ञान) संसारसे तारनेवाला है इससें उसकी तारक संज्ञा (नाम) है और उसीको प्रातिभ भी कहते हैं वह प्रातिभ अर्थात् विवेकजज्ञानके पूर्वरूपमें ऐसा प्रकाश होता है जैसे सूर्यमण्डलके उदय होनेमें अंधकार निवृत्त होता है. ऐसे प्रातिभज्ञानके उत्पन्न होनेसेभी संयमी सम्पूर्ण पदार्थको जानता है, ' वा ' शब्दसे यह अभिप्राय है कि, पूर्वमें बहुत प्रकारके संयम नानाप्रकारके ज्ञात उदय होनेके लिये कहे हैं इससे यह कहा है कि पूर्व कहेहुऐ अनेक संयमोंसे जो अनेक पदार्थोंका ज्ञान होता है वह संपूर्ण इस प्रातिभज्ञानके उदयसे भी होता है ॥ ३३ ॥

हृदये चित्तसंवित् ॥ ३४ ॥

हृदयमें चित्तका ज्ञान होता है ॥ ३४ ॥

दो०--हृदयमध्य जो कमल है, कर संयम यह नीत ।
सो प्रकाश चितमें करैं, धारत ध्यान प्रतीत ॥ ३४ ॥

हृदयशब्दसे हृदयमें जो कमल है वह अधोमुख है उसको ग्रहण करना चाहिये उसके विज्ञानके लिये संयम करनेसे (संयम सिद्ध होनेमें) चित्तका ज्ञान होता है ॥ ३४ ॥

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासङ्कीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थत्वात्स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम् ॥ ३५ ॥

अत्यन्त भिन्न बुद्धि व आत्माका भेद रहित एक बोध

सत्त्वका अर्थ बुद्धि व पुरुषका अर्थ आत्मा जानना चाहिये ।

होना भोग है । यह भोग परके लिये (निमित्त) होनेसे स्वार्थ (अपने) में संयम करनेसे आत्माका ज्ञान होता है ॥ ३५ ॥

दो०—पुरुष विलग है बुद्धिते, भोगत है सब बुद्धि ।
पै भासत दोउ एकसे, भासत अज्ञ विरुद्ध ॥
बुद्धि पुरुष दोउ भिन्न हैं, पै अभेद कर भान ।
भोगधर्म है बुद्धिके, पुरुष अर्थ सो जान ॥
तासे भोगहु जानिये, पुरुष निमित्त उत्कर्ष ।
ताहि त्यागकर स्वार्थमें, संयम पुरुष प्रदर्श ॥
जब जानत या भेदको, आत्मज्ञान तब जान ।
रज तम कर पाखंड सब, मिटत आत्मकर जान ॥ ३५ ॥

बुद्धि भोग्य (भोग करने योग्य) व आत्मा भोक्ता (भोग करनेवाला) होनेसे दोनों अति भिन्न हैं इन दोनोंका, विशेष (भेद) अज्ञानसे बोध न होना अर्थात् एकही बोध होना भोग है और यह भोग पर (अन्य) जो दृश्यरूप बुद्धि है उसके लिये है अर्थात् दुःख सुखका भोग बुद्धिको होता है. आत्मा अज्ञानसे अपनेको दुःखी सुखी और मूढ मानता है, ऐसा माननाही भोग है. ऐसा न मानकर सुख दुःख परके निमित्त अर्थात् बुद्धिके निमित्त होनेसे अपने लिये न जानकर अपनेको जो ज्ञानस्वभाव बुद्धिसे भिन्न जानना है उसमें संयम साधन करनेसे आत्मज्ञान होता है अर्थात् आत्मस्वरूप साक्षात् होता है ॥ ३५ ॥

ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वाद-वार्ता जायन्ते ॥ ३६ ॥

उससे (आत्मज्ञानसे) प्रातिभ श्रावण वेदना (स्पर्श) आदर्श (रूप) आस्वाद वार्ता गंध उत्पन्न होते हैं ॥ ३६ ॥

दो०—स्वारथमें संयम किये, पावत सब ऐश्वर्य ।
प्रातिभ श्रावण वेदना, रूप गंध रस वर्य ॥ ३६ ॥

आत्मज्ञान (विवेकसे उत्पन्न ज्ञान) से पूर्वोक्त (पहिले वर्णन किया हुआ) प्रातिभज्ञान अर्थात् ज्ञानका परम प्रकाश होता है. प्रातिभके होनेसे प्रातिभश्रावण (दिव्य श्रावण) अर्थात् दूर देशमें हुए शब्दोंका श्रावण प्रातिभ वेदन होता है अर्थात् जो परोक्ष दूर देशमें या अति सूक्ष्म पदार्थ है, उसके स्पर्शको जानना, इसी प्रकारसे प्रातिभ आदर्शसे दिव्य रूप, आस्वादसे दिव्यरस, वार्तासे दिव्य गंध-ज्ञान होनेसे प्रयोजन है अर्थात् आत्मज्ञान होनेसे सूक्ष्म व्यवहित (किसीके अन्तर वा आडमें प्राप्त) दूर देशमें विद्यमान भूत और भविष्यत् शब्द स्पर्श रूप रस व गन्धोंका ज्ञान नित्य योगिको होता है ॥ ३६ ॥

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ॥ ३७ ॥

वे समाधिमें विघ्न व व्युत्थान अवस्थामें सिद्धियां होती हैं ॥ ३७ ॥

दो०—पूर्व उक्त ऐश्वर्य सब, विघ्न समाधी जान ।
पै व्युत्थान समाधिमें, हैं सब सिद्धि समान ॥ ३७ ॥

प्रातिभ ज्ञानसे जो दिव्यश्रावण आदि होते हैं उनके प्राप्त होनेसे कृतार्थ होना न समझना चाहिये, क्योंकि वह दिव्यश्रावण आदि समाधि अवस्थामें जिससे मोक्ष प्राप्त होनेका प्रयोजन है सब विघ्न व व्युत्थान अवस्थामें सिद्धियां समझे जाते व कहे जाते हैं अर्थात् ये सब सिद्धियां समाधिमें विघ्न करती हैं इसलिये परमानन्दमोक्षके चाहनेवाले योगी इन सिद्धियोंका त्याग कर देते हैं और इनके फंदेमें नहीं पडते हैं ॥ ३७ ॥

बन्धकारणशैथिल्यात् प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः ॥ ३८ ॥

बंध कारण शिथिल होनेसे व प्रचार संवेदनसे चित्तका परशरीरमें प्रवेश होताहै ॥ ३८ ॥

दो०-धर्म और अधर्मको, बंधन कारण जान।
संयमते तिनका करे, शिथिल शक्ति जिय मान॥
सो०--पुनि कर नाडीज्ञान, जिहिं मारग चित गवन कर।
परकायामें जान, चित्त करत परवेश पुनि॥ ३८॥

सब जगह प्राप्त होनेवाला व रहनेवाला चित्त है, उसका एक शरीर मात्रमें स्थित रहना बंध है और इस बन्धके कारण धर्म अधर्म कर्म हैं, इनकी शिथिलता समाधिबलसे होती है. इन बन्धोंका कारणोंके शिथिल होनेसे और प्रचार संवेदनसे अर्थात् प्रचार जो चित्तके गमन आगमनकी नाडी हैं उनके यथार्थ ज्ञान होनेसे योगी चित्तको अपने शरीरसे निकाल कर दूसरेके शरीरमें प्रविष्ट कर देता है. चित्तके प्रवेश करनेमें चित्तके साथही सब इन्द्रियां भी दूसरेके शरीरमें साथही प्रवेश करती हैं ॥ ३८ ॥

उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च ॥ ३९ ॥

उदानके जीतनेसे जल कीच कॉंटा आदिमें असंग (मेल रहित) और इच्छामरण (अपनी इच्छा अनुसार मरनेवाला) होता है ॥ ३९ ॥

दो०--उदानवायूके विजय, गवन करत आकाश।
जल कंटक औ पंकपर, थल इव चालन जात॥ ३९॥

शरीरमें पांच वायु हैं-प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान. इन सबमें प्राण मुख्य है उसका स्थान हृदय है

अर्थात् प्राणवायु हृदयमें रहती है. इसी तरह अपानका स्थान गुदा, समानका स्थान नाभि, उदानका कण्ठ व व्यानका सब शरीर है अर्थात् व्यान सब शरीरमें रहता है. उदानको संयमसे जीतनेसे योगी जल कीच कांटा आदिके ऊपर चलता है और जल कांटा आदि योगीके शरीरमें नहीं छू जाते और अपनी इच्छासे योगी अपने शरीरको त्याग करता है ॥ ३९ ॥

समानजयाज्ज्वलनम् ॥ ४० ॥

समानके जीतनेसे ज्वलन (तेज) होता है ॥ ४० ॥

दो०-जो समान जीतहि पुरुष, तो हुये अग्नि स्वरूप ।
तम नाशत सब चित्तकर, करत प्रकाश अनूप ॥ ४० ॥

समान वायुको जीतने (वश करने) से अग्निके समान तेजवान् होता है ॥ ४० ॥

श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद्दिव्यंश्रोत्रम्[1] ॥ ४१ ॥

श्रोत्र (कान) व आकाश दोनोंके सम्बन्धमें संयम करनेसे दिव्य श्रोत्र होता है ॥ ४१ ॥

दो०-श्रोत्र और आकाशमें, संयम कर जो कोइ ।
सूक्ष्म शब्दहू सुन परत, दिव्य श्रोत्र हुइ सोइ ॥ ४१ ॥

शब्द आकाशका गुण है, और श्रोत्रइन्द्रिय उसका कारण है अर्थात श्रोत्र इन्द्रियसे शब्द सुनाजाता है. शब्द और श्रोत्रका आधार आकाश है इससे श्रोत्र इन्द्रिय और आकाशका सम्बन्ध है, इन दोनोंके सम्बन्धसे संयम करनेसे योगीका दिव्य श्रोत्र होता है अर्थात् श्रोत्र इन्द्रिय दिव्य होता है. दिव्य होनेसे योगी निकट व दूर सब स्थानोंके शब्दोंको सुनता है. पहिले स्वार्थमें संयमसे दिव्य श्रोत्र आदिका होना

---

[1] दिव्यं श्रोत्रम् इति पाठान्तरम् ।

वर्णन किया है. यहाँ श्रोत्र इन्द्रिय व उसका संबन्धी आकाश भूतके साथ जो सम्बन्ध है उसके संयमसे दिव्य श्रोत्र होना कहा है. इसी प्रकारसे एक एक इन्द्रिय व उसके कार्य भूतके संयमसे एक एक इन्द्रियके दिव्य होनेकी सिद्धि प्राप्त होनी समझनी चाहियें अर्थात् त्वक् (चमडा) व वायु, नेत्र व तेज, रसना (जिह्वा) व जल, नासिका व गन्धोंके सम्बन्धमें संयम करनेसे दिव्य त्वचा आदि इन्द्रियोंका होना समझना चाहिये ॥ ४१ ॥

कायाकाशयोस्सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम् ॥ ४२ ॥

शरीर व आकाशके सम्बन्धमें संयमसे और लघु तूल आदिमें समाधि होनेसे आकाशमें गमन होता है ॥ ४२ ॥

दो०--काया औ आकाशको, कर संयम लघु तूल ।
करत गवन आकाशसो, तनक होत नहिं भूल ॥ ४२ ॥

शरीर व आकाशके सम्बन्धमें संयम सिद्ध करके लघु तूल (रुई) आदिसे लेकर परमाणुतकमें समाधि सिद्ध करनेसे सम्बन्धके वश करनेसे योगी लघु वा हलका होता है. लघु होनेसे हलकापनसे प्रथम पदसे जलमें चलता है. फिर सूर्यकी किरणोंमें विहार करता है, इसके पश्चात् इच्छापूर्वक आकाशमें उडता है ॥ ४२ ॥

बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः ॥ ४३ ॥

अकल्पिता महाविदेहा जो बाहरकी वृत्ति है उससे प्रकाशके आवरणका क्षय (नाश) होता है ॥ ४३ ॥

दो०--महाविदेहा जानिये, वृत्ती बहिर शरीर ।
सब आवरण नाश कर, बुद्धि प्रकाश गँभीर ॥ ४३ ॥

शरीरसे बाहर मनकी वृत्तिके लाभ करनेको विदेह धारणा कहते हैं. जो इस कल्पनासे बाहर देशमें धारणा की जाती है कि, शरीरमें स्थित मन वृत्तिमात्रसे बाहर हो जाता है व बाहर प्रवृत्त होता है उसको कल्पिता विदेहा कहते हैं और जो विना शरीरकी अपेक्षा मन बाहर ही है उसीकी वृत्ति बाहर होती है. ऐसी धारणा की जाती है, उसको अकल्पिता महाविदेहा कहते हैं. कल्पिताको प्रथम सिद्ध करके कल्पिताके द्वारा योगी अकल्पिता महाविदेहाको साधन करता है, अकल्पिता महाविदेहाके सिद्ध होनेसे योगी परके शरीरमें प्रवेश करता है और उससे प्रकाश जो चित्तका स्वभाव है उसके आवरण (रोक) जो क्लेश व कर्म फल हैं उनका क्षय होता है. अविद्या आदि क्लेशोंके क्षय होनेसे आवरण रहित योगीका चित्त इच्छा अनुसार विहार करता है ॥ ४३ ॥

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद्भूतजयः ॥ ४४ ॥

स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय व अर्थवत्त्वोंमें संयम करनेसे भूतोंको जीतता है अर्थात् सब भूत योगीके वश होजाते हैं४४

दो०-आकाशादिक भूतकी, पांच अवस्था जोइ ।
स्थूल रूप अरु सूक्ष्म, अन्वयार्थवत सोइ ॥
इहिमें संयम करत जब, भूत विजय तब होत ।
पावत सिद्धी अमित सो, दिव्य होत चित जोत ॥ ४४ ॥

पृथिवी आदि भूतोंके स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्त्व ये पांच प्रकारके रूप भेद होते हैं. स्थूल आदिकोंका निदर्शन यह है कि, पार्थिव (पृथिवीवाले) गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द ये पांच हैं, आप्य (जलवाले) गन्ध छोडकर रस आदि चार, तैजस (तेजवाले) गन्ध व रस छोडकर रूप आदि तीन, वायवीय (वायुवाले) गन्ध रस व

रूप छोडकर दो, आकाशीय (आकाशवाला) गन्ध आदि चार छोडकर शब्दमात्र होनेसे पार्थिव आदि शब्द आदि एक एकका आधिक व न्यून संबन्ध होनेसे एक दूसरेसे विशेष (भेदयुक्त) हैं, शब्द आदिकोंके साथ रहनेवाले जो और पार्थिव आदि धर्म हैं, उनका विभाग यह है-आकार गुरू होना, रूक्ष होना, रंग स्थिर होना, कठिनता, सबसे भोग्य होना यह पार्थिव धर्म है. स्नेह (चिकनाई) सूक्ष्मता, प्रकाश, शुक्लता (सफेदी), बहना, गुरूहोना, शीत होना, रक्षा, पवित्रता, मिलाना यह आप्य (जलके वा जलवाले) के धर्म हैं. ऊपरको जाना, पचाना, जलाना (भस्म करना), प्रकाश करना, हलका होना, पतला व पवित्र करना यह तैजस (तेजवाले) हैं. चलना, पवित्रता, फेंकना, प्रेरणा[1], बल, रूक्ष होना यह वायवीय (वायु) के हैं. सर्व गति होना (सब जगह प्राप्त होना या रहना), रचना व आकाररहित होना, रोक न होना यह आकाशीय (आकाशके) धर्म हैं. इन धर्मोंके भेदसे पृथिवी आदि एक दूसरेसे विलक्षण व भिन्न हैं. आकार आदिभी सामान्य व विशेषरूपसे होते हैं, यथा गौ घट आकार आदि होना यह पार्थिव शब्द आदि और आकार आदि स्थूल शब्द (नाम) से कहे जाते हैं. यह स्थूल भूतोंका प्रथम रूप है, सामान्यरूपसे पृथिवीका मूर्तिरूप जलका स्नेहरूप तेजका उष्ण (गरम होना) वायुका वहनशील (वहनेवाला) और आकाशका सर्वगत होना स्वरूपशब्दसे कहा जाता है. यह स्वरूप पृथिवी आदि भूतोंका दूसरा रूप है, इस सामान्यके शब्द आदि विशेषरूपसे होते हैं. शब्द आदिकोंके विशेषरूप होनेका वर्णन प्रथम लिख दिया गया है, द्रव्यका

---

१ तृण आदिको प्रेरणा करके वायु चलाता है अर्थात् उडाती है स्थानान्तरको ले जाती है और शरीरको चलाती है इससे वायुमें प्रेरणा धर्म है ।

स्वरूप सामान्य व विशेषका समुदाय और समूहमें विशेषरूप होता है, यथा-शरीर, वृक्ष, यूथ, वन आदि समूहके दो भेद हैं, एक जो अनेक पृथक् २ व्यक्तियोंसे युक्त समूहरूप एक माना जाता है यथा अनेक वृक्षोंसे युत वन व अनेक ब्राह्मण आदिसे युत एक ब्राह्मण आदिकोंका यूथ (जमात) कहा जाता है. इसको युत सिद्धावयव कहते हैं, दूसरा जो पृथिवी आदि अवयवोंका संघात (मेल) रूप विना अन्य व्यक्तिके योग एक एकका ज्ञान होता है. जैसे शरीर वृक्ष आदि, इसको अयुत सिद्धावयव कहते हैं, यह स्वरूपका भेद वर्णन किया गया. भूतोंके कारणरूप (सूक्ष्मरूप) परमाणु और उनमें प्राप्त शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध सूक्ष्म शब्दसे कहे जाते हैं, यह भूतोंका तीसरा रूप है. सत्त्व रज तम इन तीनों गुणोंको जिनका कार्यरूप होनेका स्वभाव है उसको अन्वय कहते हैं यह चौथा रूप है, सत्त्व गुण आदि व उनके कार्योंका भोग व अपवर्गके निमित्त होना अर्थवत्त्व है यह पांचवा रूप है, इन भूतोंके पांच कार्य स्वरूप स्थूल आदिमें क्रमसे संयम करनेसे योगी भूतोंके स्वरूपको यथार्थरूपसे जानता है और भूतोंको जीत लेता है, जैसे वत्सके पीछे गाय स्नेहवश जाती है इसी प्रकारसे योगीके संकल्प अनुसार पृथिवी आदि भूतोंके कार्य होते हैं ॥ ४४ ॥

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्प-
त्तद्धर्मानभिघातश्च ॥ ४५ ॥

उससे (भूतोंके जीतनेसे) अणिमादिकोंकी उत्पत्ति व काय संम्पत्तिकी प्राप्ति होती है और उनके धर्मोंसे अर्थात् भूतोंके धर्मोंसे बाधा भी नहीं होती ॥ ४५ ॥

दो०-पञ्च भूतकी विजयते, सिद्धि आवत धाय ।
अणिमादिक सिधि आठहू, अरु स्वरूप अधिकाय ॥ ४५ ॥

स्थूल आदिके संयमसे भूतोंका जीतना जो वर्णन किया है, उससे अणिमादि आठ सिद्धियां उत्पन्न होती हैं अर्थात् प्राप्त होती हैं. स्थूलमें संयम करनेसे चार सिद्धियां होती हैं. एक अणिमा अर्थात् बडे स्वरूपसे सूक्ष्म हो जाना. दूसरी लघिमा अर्थात बडा शरीर होनेपरभी अति हलका होकर आकाशमें उडना व विहार करना. तीसरी महिमा अर्थात् बहुत भारी स्वरूप धारण करना. चौथी प्राप्ति अर्थात् पृथिवीमें बैठे हुए अंगुलीके अग्रभागसे चन्द्रको स्पर्श करना आदिस्वरूपके संयमसे प्राकाम्यसिद्धि होती है अर्थात् योगी जलमें प्रवेश करनेके समान अपनी इच्छासे भूमिके भीतर प्रवेश करता है. सूक्ष्म विषयमें संयम जीतने (सिद्ध करने) से वशित्व होता है अर्थात् पृथिवी आदि भूतोंसे और गौ घट आदि भौतिकोंमें स्वाधीन होता है. अन्वयमें संयमजित् होनेसे ईशित्व होता है अर्थात् भौतिक (भूतोंसे उत्पन्न) पदार्थोंके उत्पन्न व उनके नाश व उनकी रचना करनेमें समर्थ होता है और अर्थवत्त्वमें संयम सिद्ध करनेसे यत्रकामावसायित्व सत्यसंकल्पता सिद्धि होती है अर्थात् जो संकल्प करता है उसी प्रकारसे भूतकी प्रकृतियोंसे कार्य होते हैं परन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि, ईश्वररचित सृष्टिकार्यके विरुद्धकार्य योगी कर सकता है अर्थात् उनको चन्द्रमा कर देने आदिमें समर्थ होता है. जो योग्य कार्य हैं उनको योगी अपने संकल्पसे कर सकता है, ये आठ सिद्धियां प्राप्त होती हैं. कायसम्पत्तिको आगे सूत्रमें वर्णन किया है उससे यहां उसके व्याख्यानकी आवश्यकता नहीं है. पृथिवी आदि भूतोंके धर्म जो मूर्तिमान् होनेसे रोक करना आदि हैं उनसे योगीको बाधा नहीं होती अर्थात् योगी शिलाके भीतर प्रवेश करता है, शिला आदि उसके प्रवेश करनेमें रोक नहीं कर सकते. तथा जल

भिगा नहीं सकता, अग्नि भस्म नहीं कर सकती, वायु उडा नहीं सकती और आकाश यद्यपि किसीका आवरण (छिपानेवाला) नहीं होता तथापि योगी अति सूक्ष्म हो आकाशमें छिप जाता है देख नहीं पडता ॥ ४५ ॥

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत् ॥ ४६ ॥

सब अङ्गोंकी सुन्दरता बल व वज्रके समान अङ्गोंकी रचना दृढ होनी कायसम्पत्ति है ॥ ४६ ॥

दो०—कायाकी सम्पति यह, रूप कांति बल जान ।
वज्रसमान शरीर कर, चार रूप पहिचान ॥ ४६ ॥

अति सुन्दर होना बल होना वज्रके समान शरीरके अवयव व जोडोंका कठिन होना कायसम्पत् है. यह उक्त (कहे हुए) स्थूल आदिमें संयम करनेसे भूतोंके जीतनेसे प्राप्त होता है ॥ ४६ ॥

ग्रहणस्वरूपाऽस्मिताऽन्वयार्थवत्त्वसंयमादिं-द्रियजयः ॥ ४७ ॥

ग्रहण स्वरूप अस्मिता अन्वय व अर्थवत्त्वमें संयम करनेसे इंद्रियोंसे जीत होती है अर्थात् इंद्रियोंको जीतता है॥४७॥

दो०—ग्रहण रूप अरु अस्मिता, अन्वयार्थवत रूप ।
इनमें संयमके किये इन्द्रिय विजय अनूप ॥ ४७ ॥

इन्द्रियोंके पांच प्रकारके रूप भेद हैं उनका विवरण यह है- सामान्य व विशेष स्वरूपसे विद्यमान रहनेवाले शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध ग्राह्य हैं, इनमें श्रवण आदि इन्द्रियोंकी वृत्तियोंका होना ग्रहण है, यह इन्द्रियोंका एक रूप है. ज्ञान है स्वभाव जिसका ऐसी बुद्धि है, उसके सामान्य व विशेषोंके अयुतसिद्धावयव[1] भेदको प्राप्त समूहरूप द्रव्य इन्द्रिय है, यह

१ अयुतसिद्धावयवका वर्णन पहिले ४२ सूत्रके भाष्यमें होचुका है इससे यहाँ नहीं लिखा गया उक्त सूत्रके भाष्यसे देखना चाहिये ।

इन्द्रियका स्वरूप इन्द्रियका दूसरा रूप है. अस्मिता (अहंकार) सामान्य रूपके विशेषरूप इन्द्रिय है, यह अस्मितारूप होना इन्द्रियोंका तीसरा रूप है. अहंकारसंयुक्त इन्द्रियाँ ज्ञान क्रिया और स्थिति स्वभाववाले जो सत्त्वगुण रजोगुण व तमोगुण हैं उनके परिणाम हैं, यह इन्द्रियोंका अन्वयरूप चौथा रूप है. गुणोंमें जो गुणोंके अनुसा पुरुषार्थका होना है यह अर्थवत्त्वसंज्ञक इन्द्रियोंका पांचवाँ रूप है. इन पांचों इन्द्रियरूपोंमें क्रमसे संयम करनेसे एक एकको जीतकर पांचों रूपोंके जीतनेसे योगी इन्द्रियजित् होता है सब इन्द्रियाँ उसके अधीन होजाती हैं ॥ ४७ ॥

ततोमनोजवित्वविकरणभावःप्रधानजयश्च ॥ ४८ ॥

उससे (इन्द्रिय जयसे) मनोजवित्व, विकरणभाव और प्रधानजय होता है अर्थात् योगी प्रधानको जीतता है ॥४८॥

दो०—इन्द्रियजयते होत है, तीन प्रभाव अरूप।
मनजवित्व विकर्ण अरु, जय प्रधान अनुरूप ॥ ४८ ॥

इन्द्रियजयसे (इन्द्रियोंके जीतनेसे) मनोजवित्व अर्थात् शरीरकी अति उत्तम गति होनी, विकरणभाव अर्थात् विना देहसम्बंध दूर देशमें प्राप्त भूत भविष्यत् कालमें हुए व होनेवाले और अतिसूक्ष्म विषयोंका जानना, प्रधानजय अर्थात् सम्पूर्ण प्रकृतिके कार्योंका वश होना ये तीन सिद्धियां प्राप्त होती हैं. इन तीन सिद्धियोंको मधुप्रतीक कहते हैं ॥ ४८ ॥

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ॥ ४९ ॥

बुद्धि व पुरुषके भिन्न होनेका जिसको ज्ञान है केवल

१ मनोजयित्व इति मूले पाठः।

उसीको सब भावों (पदार्थों) का अधिष्ठाता होना व सबका ज्ञाता होना सिद्ध होता है ॥ ४९ ॥

दो०-प्रकृति पुरुषको ज्ञान जब, होत चित्तमें आय।
सर्व भाव अधिपति बने, अमित ज्ञान सो पाय ॥ ४९ ॥

रजोगुण तमोगुण मल जिसके दूर होगये हैं और विवेकसे उत्पन्न ज्ञानसे बुद्धि व आत्माके भिन्न होनेका जिसको निश्चय होगया है और जो वशीकारसंज्ञा वैराग्यमें वर्तमान है वही सब भावोंका अर्थात् प्रधान व सम्पूर्ण उसके परिणामरूप पदार्थोंका अधिष्ठाता होता है और सब प्राणियों व पदार्थोंके अतीत अनागत और वर्तमान धर्मों-सहित स्थित गुणोंको जानता है, इसको विशोकिका सिद्धि कहते हैं, इसको प्राप्त होकर योगी सब क्लेश व बन्धनसे रहित हो पूर्णज्ञान होकर आनन्दसे विचरता है ॥ ४९ ॥

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥ ५० ॥

उसमें भी वैराग्य होनेसे दोष (क्लेश) बीजोंके नाश होनेपर कैवल्य मोक्ष होता है ॥ ५० ॥

दो०-विवेकख्याति वैराग्यते, दोषबीज क्षय होत।
नशत अविद्याबीजके, पावत मुक्ती जोत ॥ ५० ॥

उसमें अर्थात् विवेकख्यातिरूप बुद्धिमें भी वैराग्य होनेसे दोष बीज जो राग द्वेष मोह कर्मफल संस्कार है उनके क्षय होनेसे चित्तमें परवैराग्य होता है, वैराग्य होनेसे पुरुषको मोक्ष प्राप्त होता है. मोक्ष होनेमें पुरुष चेतन आनन्दस्वरूपमात्र रहता है. यह जो विवेक वृत्तिरूप सत्त्वगुणका कार्य बुद्धि है उनमें वैराग्य होना परवैराग्य व परमवैराग्यसे मोक्ष होना वर्णन किया है. इसका भाव यह है कि, विवेकप्रत्यय अर्थात् विवेकवृत्ति वा विवेकरूप ज्ञान होनेसे विषयोंसे वैराग्य

होता है, जिस विवेक प्रत्ययसे विषयोंसे वैराग्य होता है वह सत्त्व-रूप बुद्धिका धर्म है, बुद्धि सत्त्वरूप प्रधानका कार्य है और त्यागने योग्य वर्णन कीगई है उस पुरुष परिणामरहित शुद्ध बुद्धिसे भिन्न है, इससे जिस विवेकबुद्धिसे विषयोंसे वैराग्य होता है उस विवेक प्रत्ययरूप बुद्धिमें भी वैराग्य होनेसे व गुणोंके वियोग होनेसे क्लेशके बीजोंका नाश होता है. क्लेश बीजोंके नाश होनेसे मुक्ति होती है, मुक्ति होनेसे पुरुष फिर तीनों तापोंको भोग नहीं करता, इसको संस्काराशेष सिद्धि कहते हैं ॥ ५० ॥

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुन-रनिष्टप्रसङ्गात् ॥ ५१ ॥

स्थानियों (देवताओं) के उपनिमंत्रणमें फिर अनिष्ट (क्लेश) प्राप्त होनेसे संग व स्मय न करना चाहिये ॥ ५१ ॥

दो०—जब देवादिक आयकर, करै निमंत्रण जासु।
तिनमें प्रीति न करहि सो, हुए अनिष्ट पुनि तासु ॥ ५१ ॥

योगमें जो विघ्न उत्पन्न होते हैं उनके निवारणके लिये यह उप-देश किया है कि, स्थानियोंके उपनिमन्त्रणमें संग व स्मय न करना चाहिये. इसका व्याख्यान यह है कि, योगी चार प्रकारके होते हैं. प्रथमकल्पिक, मधुभूमिक, प्रज्ञाज्योति और अतिक्रान्तभावनीय. प्रथम (कल्पिक) योगी संयममें प्रवृत्तमात्र परके सिद्धि आदिको नहीं जानता, दूसरा (मधुभूमिक) संप्रज्ञात योगसे ऋतंभरा प्रज्ञा अव स्थाको प्राप्त भूत व इन्द्रियोंको साक्षात् करके जीतनेकी इच्छा करता है, तीसरा (प्रज्ञाज्योति) भूत व इन्द्रियोंका जीतनेवाला है अर्थात् सम्पूर्ण जो भावना किये गये हैं व जिनकी भावना करनी योग्य है उनमें रक्षा बन्ध करके कृत (किये गये) व कर्त्तव्य (करने योग्य)

का साधन करनेवाला है. चौथा (अतिक्रांतभावनीय) जीवन्मुक्त होता है, जिसका केवल चित्तका लय होनाही प्रयोजन है, इस अतिक्रान्तभावनीय योगीके प्रज्ञा (बुद्धि) की सात प्रकारकी प्रांतभूमि होती हैं, इसका व्याख्यान पूर्वही कियागया है. इनमेंसे प्रथम योगी देवता आदिसे उपनिमन्त्रण (प्रार्थना) किये जानेके योग्य नहीं होता. दूसरा मधुभूमिक जब मधुमती भूमिको साक्षात् करता है और इन्द्रियोंके जीतनेकी इच्छा करता है तब उसके सत्त्व (बुद्धि) में शुद्धता होते देखकर स्थानी अर्थात् स्थानोंके देवता स्थानोंसे उपनिमन्त्रण (आदर सत्कारके लिये बुलाना या प्रार्थना करना) करते हैं अर्थात् उत्तम उत्तम भोग दिखाकर योगीसे यह कहते हैं कि—यहां स्थित हो, यहां रमण करो, क्या अच्छा यह भोग है, यह अति सुन्दर कन्या है, क्या अच्छा रसायन है कि जिससे जरा मृत्यु नहीं होती, कैसा आकाशमें चलनेवाला विमान है, कैसे कल्पवृक्ष हैं, उत्तम अप्सरा हैं, दिव्य कर्णनेत्र हैं, यह वज्रके समान शरीर है. यह अजर अमर देवताओंके स्थान हैं, ऐसा जो स्थानियोंका उपनिमंत्रण है उसमें संग व स्मय न करना चाहिये. संगके दोषोंको विचारकर ऐसी भावना करै कि मैं इस घोर संसारमें बारम्बार जन्म व मरण क्लेशरूप अन्धकारमें परिवर्तमान यत्न व साधनसे क्लेश अंधकारका नाश करनेवाला योगप्रदीप जो प्रकाशित किया है उसके यह तृष्णायोनि (तृष्णाके उत्पन्न करनेवाले) विषय शत्रु हैं, मैं पूर्वही इस विषयतृष्णासे ठगा गया, अब ज्ञानप्रकाशको प्राप्त फिर किस तरह जरती हुई संसार अग्निमें अपने आत्माको ईंधनके समान जलाऊँ. जो विषयभोग स्वप्नके समान व तुच्छ कृपण जनोंसे इच्छा करने योग्य हैं उनसे बचा रहना चाहिये, इसीमें कल्याण है. इस प्रकारसे संग त्यागका निश्चय

करके समाधिमें प्राप्त हो और यह मेरे योगका प्रभाव है कि देवता मेरी प्रार्थना करते हैं ऐसे अहंभाव अंधकार (अंहकार) को स्मय कहते हैं यह न करे यह योगभ्रष्ट होनेका कारण है, योगभ्रष्ट होनेसे फिर अनिष्ट जो क्लेश आदि हैं उनका प्रसंग होता है अर्थात् फिर क्लेश आदि प्राप्त होते हैं, इससे स्थानियोंके उपनिमन्त्रणमें संग व स्मय न करना चाहिये. संग व स्मय न करनेसे दृढ होकर योगी समाधिको प्राप्त होता है ॥ ५१ ॥

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५२ ॥

क्षण और उनके क्रमोंमें संयमसे विवेकज (विवेकसे उत्पन्न) ज्ञान होता है ॥ ५२ ॥

दो०—क्षण और क्षणक्रममें करत, संयम योगी जोय।
तिनको होत विवेक सब, ज्ञान सफल दृढ होय ॥ ५२ ॥

नियत समय पाकर जो परमाणु चलता है व चलनेमें पूर्व देशको छोडता है वह उत्तरप्रदेश (आगेकी जगह) को प्राप्त होता है यह क्षण है और इन क्षणोंका प्रवाह न रुकना क्रम है, क्षणोंका और उनके क्रमोंका समूह होना जो माना जाता है अथवा भासेत होता है यह यथार्थ नहीं है क्योंकि क्षणोंका समूहरूप जो मूहूर्त रात्रि दिन है यह कालवस्तुसे शून्य है एक बुद्धिसे मान लेना मात्र है. भ्रमसे लोकमें वस्तुस्वरूपके समान भासित होता है, क्षणोंके पूर्वसे उत्तर होनेमें अर्थात् पहिलेसे आगे चलने या होनेमें जो एक दूसरेसे अन्तर होता जाता है इसको क्रम कहते हैं परन्तु विचारसे क्षणोंका समूहमें क्रमको कोई वस्तु होना सिद्ध नहीं. क्योंकि, दो क्षण एक साथ नहीं होते, दोनोंका साथ होना असंभव होनेसे क्रम नहीं हो सकता अर्थात् पूर्वके न रहनेमें वर्तमान होता है, न रहे हुएका वर्तमानके साथ संयोग नहीं

है, न रहे हुएका वर्तमानके साथ संयोग नहीं होसकता. इससे एक एक क्षण वर्तमान है पूर्व व उत्तर क्षण कुछ नहीं है इससे क्षणोंका समाहार (संयोग) नहीं है जो हुए और होने वाले क्षण हैं वे परिणामसंयुक्त व्याख्यान करने योग्य हैं केवल एक वर्तमानही क्षणसे सम्पूर्ण लोक परिणाम का अनुभव करता है, इन क्षणोंके आरूढ सब धर्म हैं, इन क्षणों व क्षणोंके क्रमोंमें संयम सिद्ध करनेसे क्षण व क्रम साक्षात् होते हैं साक्षात् होनेके पश्चात विवेकज ज्ञान (विवेकसे उत्पन्न ज्ञान) प्रकट होता है ॥ ५२ ॥

जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात्तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ॥ ५३ ॥

जब समान पदार्थोंमें जाति, लक्षण व देशोंसे एक दूसरेसे भेद होनेका निश्चय नहीं होता तब उससे अर्थात् विवेकज ज्ञानसे होता है ॥ ५३ ॥

दो०—होत विवेकज ज्ञानते, तुल्य वस्तु कर ज्ञान ।
लक्षण जात अरु देशकर, भेद परत नहिं जान ॥ ५३ ॥

लोकमें एक दूसरेसे भेद निश्चित होनेके तीन हेतु हैं—जाती लक्षण और देश. जो दो पदार्थ देश व लक्षणमें समान हैं उनमें जाति अन्यता (एकके दूसरेसे भिन्न होना) जाननेमें हेतु होता है यथा गौ और नील गौमें जातिसे (जातिद्वारा) भेद होनेका ज्ञान होता है और जो जाति व देशमें दो पदार्थ समान होते हैं उनमें लक्षण उनके भेद जाननेमें हेतु (कारण) होता है. जैसे—दो गौ जो जाति व देश (शरीर परिणाम) में समान हैं उनमें लक्षण अर्थात कृष्ण व शुक्ल (काले व सफेद) आदि रंगसे भेद विदित होता है और जो जाति व लक्षणमें तुल्य हैं उनमें देशसे भेद होनेका ज्ञान होता है यथा

दो आंवले जो जाति व लक्षणमें समान हैं उनका भेद पूर्व व उत्तर देशसे जाना जाता है और जब इन दोनों आंवलोंको जिसने प्रथम देखा है उसकी दृष्टि बचाकर पूर्वको उत्तर व उत्तरको पूर्व कर देवें तो जाति लक्षणमें समान होने और देशका भेद न ज्ञात होनेसे भेदका निश्चय नहीं होता, जब जाति लक्षण व देशोंसे भेद होना विदित नहीं होता, तब योगीको विवेकजज्ञानसे भेद विदित होता है अर्थात् लोकको जाति लक्षण व देशद्वारा पदार्थोंके भेदका ज्ञान होता है व योगियोंको विना जाति लक्षण देशके विवेकज ज्ञानसे भेद होनेका निश्चय होता है ॥ ५३ ॥

तारकं सर्वविषयं सर्वथा विषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५४ ॥

तारकज्ञान जो विवेकज ज्ञानरूप है विना क्रम उसमें सब विषयोंका ज्ञान होनेसे कोई विषय शेष (बाकी) न रहनेसे तारक सर्व विषय है अर्थात् कोई विषय रहित नहीं है ॥ ५४ ॥

दो०–भवतारक सब विषयकर, ज्ञान सर्वथा होय।
तीन कालमें क्रमरहित, ज्ञान विवेकज सोय ॥ ५४ ॥

तारकसंज्ञक विवेकजज्ञान संसारसागरसे तारता है, इससे तारक कहते हैं, इसमें सब विषयोंका ज्ञान होता है व विना क्रम एकही क्षणमें अनेक या सब पदार्थोंको जानता है, कोई विषय इसमें शेष नहीं रहता, इससे यह सर्वविषय है अर्थात् सब विषयोंके ज्ञानसे संयुक्त है ॥ ५४ ॥

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति[1] ॥ ५५ ॥

इति श्रीपातञ्जले योगशास्त्रे विभूतिनिर्देशो नाम तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

---

1 इतिशब्दो राजमार्तण्डभोजवृत्त्योर्मूले नास्ति ।

सत्त्व पुरुष दोनोंकी शुद्धि सम होनेमें मुक्ति होती है ॥५५॥

दो०—बुद्धि पुरुषकी शुद्धि अरु, साम्यावस्था जोइ ।
ताहि कहत कैवल्यता, मुक्तिरूप है सोइ ॥ ५५ ॥

जब रजोगुण व तमोगुण व मलसे रहित शुद्धसत्त्वरूप अर्थात् सत्त्वगुणरूप बुद्धि होती है जिससे पुरुषके पृथक् (बुद्धिसे भिन्न) होने मात्रका बोध होता है व सम्पूर्ण क्लेशबीज भस्म होजाते हैं तब पुरुषका शुद्धरूप भासित होता है और पुरुष जो अविद्यासे दुःख सुख भोग करता है उस भोगका अभाव होजाता है, यही पुरुष स्वरूपकी शुद्धि है. जब इस प्रकारसे सत्त्व (बुद्धि) व पुरुषकी शुद्धि होजाती है तब मुक्ति होती है. जिसके सत्त्व व पुरुषरूपकी शुद्धि होनेसे क्लेशबीज भस्म होजाते हैं उसके ज्ञानके किसी सिद्धि या विभूतिकी अपेक्षा नहीं होती, सत्त्वबुद्धि होनेके द्वारा समाधिसे उत्पन्न ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं परन्तु ऐश्वर्य प्राप्त होना मुख्य प्रजोजन नहीं है. मुख्य परमार्थ यह है कि, ज्ञान होनेसे अविद्याका नाश, अविद्याके नाशसे क्लेशोंका नाश होता है, क्लेशोंके अभाव (न रहने) से कर्म फलोंकी निवृत्ति होती है फिर पुरुषको भोग नहीं होता, पुरुष स्वरूपमात्र निर्मल ज्योतिरूप रहता है, यही पुरुषका कैवल्यनामक मोक्ष है ॥५५॥

इति श्रीपातञ्जले योगशास्त्रे श्रीमद्धार्मिकप्यारेलालात्मजबाँदामण्डलान्तर्गत-
तेरहीत्याख्यग्रामवासिश्रीप्रभुदयालुनिर्मिते भाषाभाष्ये
विभूतिपादस्तृतीयः समाप्तः ॥ ३ ॥

अथ कैवल्यपादः ४.

अब चौथा कैवल्यपादका वर्णन करते हैं—

जन्मौषधिमन्त्रतपस्समाधिजाः सिद्धयः ॥ १ ॥

जन्म, औषधि, मंत्र, तप और समाधिज (समाधिसे उत्पन्न) सिद्धियां हैं ॥ १ ॥

दो०—चरणकमल वंदन करों, पातंजलिमुनिकेर ।
कैवल्यपाद वर्णहु सुमिरि, मुक्ति न लावहि देर ॥
जन्मौषधि औ मंत्र तप, पुनि समाधि ते जान ।
सिद्धि प्राप्त होत हैं, कर साधन सन्मान ॥ १ ॥

मनुष्य जन्ममें स्वर्गभोग फल प्राप्त होने योग्य धर्माचरण व्रत करनेसे देहत्याग करनेपर पुण्यविशेषसे देवजन्मको प्राप्त होता है, देवयोनिमें होनेहीसे दिव्य देह होनेसे अणिमा आदि सिद्धियां प्राप्त होती हैं. यह जन्मसिद्धि है, औषधिविशेषरूप रसायनोंके योगसे जरामरणका निवारण करना, शरीरमें विशेष शक्तियोंका प्राप्त करना औषधिसिद्धि है. मंत्रोंसे (मंत्रोंके द्वारा) आकाशमें गमन करना व अणिमा आदि सिद्धियोंका प्राप्त होना मंत्रसिद्धि है. तप करनेसे इच्छाचारी होना अणिमा आदि प्राप्त होनेका जो मनोरथ हो उसका पूर्ण होना तपसिद्धि है. समाधिज सिद्धियोंका जो व्याख्यान होगया ये पांच प्रकारकी सिद्धियां होती हैं. सिद्धियोंके प्राप्त होनेसे जो योगी एक जातिसे अन्य जाति तथा रूपको धारण करता है यह और और शरीर व रूपोंका होजाना तथा प्राणियोंका एक जन्मसे अन्य जन्ममें होना कैसे होता है ? शरीरोंके परिणाम (बदलने) के उपादान कारणोंका न्यून अधिक होना कैसे संभव है ? क्योंकि विना कारणकी विलक्षणतासे कार्यमें विलक्षणता वा भेद नहीं होसकता, इस संदेह निवारणके लिये अन्यजाति व रूपमें प्राप्त होनेका हेतु आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं ॥ १ ॥

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ॥ २ ॥

प्रकृतिकी पूर्णतासे जात्यन्तरमें (और जाति वा जन्ममें) परिणाम होता है ॥ २ ॥

दो०-प्रकृतिके पूरण भये, जात्यन्तरकी पाय ।
होत पृथक् परिणामसों, जन्मान्तरमें जाय ॥ २ ॥

शरीर व इन्द्रियोंके एक जातिसे दूसरी जातिमें परिणाम होनेको जात्यन्तर परिणाम कहते हैं. जैसे मनुष्यजातिमें परिणत (परिणामको प्राप्त) जो शरीर व इन्द्रिय हैं उनका देवता व तिर्यक् योनिमें परिणाम होना जात्यन्तरपरिणाम है. यह परिणाम प्रकृतिके आपूर (पूर्णता) से होता है. पृथिवी आदि जो भूत हैं यह शरीरकी प्रकृति है और अस्मिता इन्द्रियोंकी प्रकृति है. इन प्रकृतियोंका कारणरूपसे कार्यरूप अवयवोंके आकारमें भरने वा प्रवेश करनेको आपूर कहते हैं, इस प्रकृत्यापूर अर्थात् प्रकृतिकी पूर्णतासे जात्यन्तरमें (दूसरे रूप व आकारमें) परिणाम होता है. अब शंका यह है कि, यह प्रकृत्यापूर धर्म आदि निमित्त (कारण) की अपेक्षा करता है कि, विना धर्म आदिकी अपेक्षा आपहीं प्रवृत्त होता है ? इसका समाधान यह है कि, धर्म आदि निमित्तकी अपेक्षा करता है अर्थात् विना धर्म आदि निमित्तके नहीं होता, ईश्वर नियम अनुसार धर्मसे अधर्मके निरास (खण्डित वा नष्ट) हो जानेसे अर्थात् देवयोनि उत्तम जातिमें प्राप्त होनेके प्रतिबन्धक (रोक) अधर्मोंके नाश होनेसे प्रकृति आपही देवयोनिरूप परिणाम होनेमें प्रवृत्त होती है तथा अतिशय पापसे पापके रोकनेवाले पुण्यके दूर होनेसे पाप निमित्तसे तिर्यग्योनि आदिमें प्रकृतिका परिणाम होता है. इसका दृष्टांत आगे सूत्रमें वर्णन किया है ॥ २ ॥

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् ॥ ३ ॥

निमित्त प्रकृतियोंका प्रयोजक (प्रवृत्त करनेवाला)नहींहै,

उससे आवरण भेदमात्र (केवल आडका दूर कर देना) क्षेत्रिक (खेतवाले) के समान होता है ॥ ३ ॥

दो०—प्रकृति प्रयोजक धर्म नहिं, केवल अहै निमित्त।
पै तासे कृषिकार सम, नाशत बंधप्रक्रित्त ॥ ३ ॥

धर्म आदि निमित्त प्रकृतियों (कारणों) के प्रयोजक (प्रवर्त-करनेवाले) नहीं होते, क्योंकि, धर्म आदि प्रकृतिके कार्य हैं, कार्य कारणका प्रवर्तक नहीं होता. जैसे-विना कुम्हारके उत्पन्न होनेवाला या उत्पन्न हुआ घट अपने कारण मिट्टी चक्र (चाक) दण्ड जल आदिकोंका स्वतंत्र (आपसे) प्रवर्तक नहीं होता. क्योंकि घटकी उत्पत्ति उसके कारणोंके अधीन है, कारण घटके अधीन नहीं है, घटके कारणोंका स्वतंत्र प्रवर्तक कुम्हार है. इसी प्रकारसे प्रकृतियोंका स्वतंत्र प्रवर्तक ईश्वर है. धर्म आदि परिणामके निमित्त हैं, प्रकृतियोंके प्रयोजक अर्थात प्रेरणा वा प्रवर्त करनेवाले नहीं हैं, निमित्तसे केवल क्षेत्रिक (खेतवाले) के समान वरणभेद (आवरणका निवारण) होता है अर्थात् जैसे खेती करनेवाला खेतमें जल भरजानेपर उसके रोकनेवाली जो ऊंची वा आडकी मिट्टी है उसको दूर करता है, उसके दूर होनेसे जल विना किसीकी प्रेरणा उस क्षेत्रसे आपही निकलकर अन्य क्षेत्रको जाकर भरता है. इसी प्रकारसे धर्म जब ईश्वर नियम अनुसार अधर्मको जो देव जाति आदि उत्तम गतिके प्राप्त होनेका आवरण (आड वा रोक) है निवारण करता है, तब प्रकृति आपही देवजाति आदि परिणाममें प्रवृत्त होती है और धर्म जो दुर्गतिका आवरण है जब अधर्मसे दूर किया जाता है तब प्रकृति आपही तिर्यग्योनि आदिमें प्रवृत्त होती है। अब यह

संदेह होता है कि, जब योगी बहुत शरीरोंको धारण करता है तब उसका चित्त एकही होता है या बहुत होते हैं ? इसका समाधान आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं ॥ ३ ॥

निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ॥ ४ ॥

अस्मितामात्रसे निर्माण चित्त होते हैं ॥ ४ ॥

दो०–होत अस्मितामात्रते, संज्ञा चित निर्माण ।
योगी निर्मित चित्तको, योगप्रभावप्रमाण ॥ ४ ॥

योग प्रभावसे बनाये गये चित्तका नाम निर्माण चित्त है । योगी अस्मितामात्रसे निर्माण चित्तोंको अपने संकल्पमात्रसे निर्मित करता अर्थात् बनाता है, इन निर्माण चित्तोंसे योगीके बनाये हुए सब शरीर चित्त संयुक्त होते हैं । अब इस सन्देहका समाधान कि बहुत चित्तोंके भिन्न भिन्न अभिप्राय होनेसे योगीको भोगकी सिद्धि नहीं होसकती यह आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं ॥ ४ ॥

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ॥ ५ ॥

प्रवृत्तिभेदमें एकचित्त अनेकोंका प्रवृत्त करनेवाला है ॥ ५ ॥

दो०–प्रवृतिभेदते अन्य चित्त, प्रेरण करहि सु एक ।
पूर्व सिद्ध चित्त प्रेरणा, आज्ञा करत अनेक ॥ ५ ॥

अनेक चित्त जो योगी निर्माण करता है उन सबका प्रवर्तक ना एक अपने भोगके अनुकूल प्रवृत्तिविशेषका नियामक एक चित्त विशेष निर्मित करता है, उसके द्वारा इच्छाके अनुसार भोगमें प्रवृत्ति होती है अर्थात् अनेक चित्तोंके प्रवृत्तिभेदमें एक मुख्य चित्त जो सब चित्तोंका प्रवर्तक योगी निर्माण करता है उससे सब भोगोंमें प्रवृत्त होता है ॥ ५ ॥

तत्र ध्यानजमनाशयम् ॥ ६ ॥

उनमें ध्यानसे उत्पन्न अनाशय है ॥ ६ ॥

सो०—तिन पांचोंके माहिं, ध्यानजन्म जो चित्त है।
ताहि वासना नाहिं, सर्वाशयते रहित सो ॥ ६ ॥

जन्म, औषध, मन्त्र, तप और समाधि इन पांचोंसे जो सिद्ध चित्त हैं उनमेंसे जो ध्यानसे उत्पन्न चित्त है वही अनाशय है अर्थात् उसका आशय जो नाना प्रकारकी वासना राग आदि हैं उनमें प्रवृत्ति नहीं होती आशयोंसे रहित होनेसे वही मोक्षके योग्य है वा होता है ॥ ६ ॥

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ॥ ७ ॥

अशुक्ल अकृष्ण कर्म योगीका व तीन प्रकारका औरोंका होता है ॥ ७ ॥

दो०—कर्म अशुक्ल अकृष्ण दोऊ, योगीजनके जान।
कृष्णाकृष्णा अरु शुक्लतम, अन्य जननके मान ॥ ७ ॥

कर्म चार प्रकारके होते हैं-एक कृष्णकर्म अर्थात् पापकर्म यथा हिंसा व्यभिचार आदि, दूसरे शुक्लकर्म अर्थात् पुण्यकर्म यथा तप स्वाध्याय ध्यान आदि, तीसरे शुक्ल व कृष्णकर्म अर्थात् पाप व पुण्य मिलेहुए, यथा परपीडा व अनुग्रह आदिका समूह, चौथे अशुक्ल अकृष्ण अर्थात् पाप व पुण्य दोनोंसे रहित। यहां चौथा फलकी इच्छारहित ईश्वर समर्पित संन्यासी क्लेश क्षीण योगीका कर्म है और पूर्वोक्त तीन प्रकारके कर्म और संसारी विषयी प्राणियोंके होते हैं ॥ ७ ॥

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्ति- र्वासनानाम् ॥ ८ ॥

उससे (उक्तत्रिविध कर्मसे) उसके विपाकके समान गुण वा योग्य गुणरूपही वासनाओंकी प्रकटता होती है ॥ ८ ॥

दो०—त्रिविध कर्मके पाकते, गुण उपजत हैं जोई।
तिहि गुण योग्य स्वरूपकी, प्रकट वासना होइ ॥ ८ ॥

उससे अर्थात् त्रिविध कर्मसे इसके विपाक (फल देनेके योग्य होनेकी अवस्था) के समान वा योग्य गुणरूपही वासनाओंकी प्रकटता होती है अर्थात् जिस जातिके कर्मका जो विपाक (फल देनें योग्य होनेकी अवस्था) है उसके योग्य वा समान गुणरूप जो वासना कर्मविपाकमें सोये हुएके समान प्राप्त रहती हैं उन्हींकी प्रकटता होती है अर्थात् दैवकर्म (उत्तर कर्म) परिपापको प्राप्त नारक (नरकवाली) तिर्यक्‌ मनुष्य वासनाओंकी प्रकटताका निमित्त नहीं होता है किन्तु दैवकर्मविपाकके अनुगुण जो वासना हैं उन्हींके प्रकट होनेका निमित्त होता है अर्थात् दैवकर्मविपापके योग्य ही गुणरूप वासना प्रकट होती हैं, इसी प्रकारसे नारक तिर्यक्‌ मनुष्योंके कर्मोंके विपाकके अनुगुणही वासनाओंका प्रकट होना जानना चाहिये, क्योंकि दैवकर्मका दिव्य-भोग फल होना योग्य है, नरकभोग वासना आदिके प्रकट होनेमें दिव्यभोगका संयोग नहीं होसकता तथा नरक व मनुष्य भोगमें दिव्य स्वर्गभोग वासनाओंका होना सम्भव नहीं है क्योंकि उनकी प्रकटतामें नरकभोग आदिका होना योग्य नहीं है, इससे जिस जातिवाले कर्मका जो विपाक है उसीके योग्य गुणरूप वा योग्य गुणवाली वासनाओंकी प्रकटता होती है अन्यथा नहीं. यह सिद्ध होता है ॥ ८ ॥

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृति-संस्कारयोरेकरूपत्वात् ॥ ९ ॥

स्मृति व संस्कारके एकरूप होनेसे जिनके बीचमें अनेक जाति, देश व कालगत होजाते हैं उनका भी अन्तर नहीं होता अर्थात् जाति देश व काल भेद होजाने परभी उनमें अन्तर (भेद) नहीं होता ॥ ९ ॥

दो०-स्मृति अरु संस्कार सम, ताते अंतर नाहिं ।
जाति देश औ काल सब, पूरव जाय समाहिं ॥ ९ ॥

कर्मविपाकके समान गुण रूप वासनाओंका प्रकट होना जो वर्णन किया है उसमें यह निश्चय होना चाहिये कि, जैसे व्यतीत हुए पूर्वदिन (कल्ह) के पश्चात् जो आजका वर्तमान दिन है उसमें पूर्वदिनका स्मरण होना संभव है. बहुत दिन जिसके बीचमें व्यतीत होगये हैं उसका स्मरण होना सम्भव नहीं है. इसी प्रकारसे जिस जन्मके पश्चात् दूसरा जन्म होता है व उसके बीचमें और जन्म आदि व्यतीत नहीं होते उसी पूर्व जन्मकी वासनाकी प्रकटता होती है वा उस पूर्व जन्मका स्मरण होता है अथवा बहुत जन्म आदि बीचमें व्यतीत होजानेपरभी बहुतकाल पूर्व हुए जन्मकी वासनाकी प्रकटता होती है, यह निश्चय होनेके लिये सूत्रमें यह कहा है कि स्मृति व संस्कारके एकरूप होनेसे अर्थात् समानरूप होनेसे जाति देश व कालसे व्यवहित (अन्तरको प्राप्त) जो वासना हैं, उनकाभी फलसे (यथार्थरूपसे) अन्तर (पृथक्ता वा भेद) नहीं होता. इसका एक दृष्टांत उपलक्षण मात्रके लिये इस प्रकारसे जान लेना चाहिये. यथा—किसी कालमें बिलारकी वासना हुई और बीचमें अनेक जन्म देश व कालका व्यवधान होगया परन्तु फिरभी जिस कर्मको बिलारका जन्म होना फल है उसके विपाकसे उस विपाकके समान वा योग्य गुणवाली बिलारहीकी वासनाकी प्रकटता होती है, इसी प्रकारसे और भी उत्तम, मध्यम व निकृष्ट वासनाओंका होना जानना चाहिये क्योंकि जैसे पूर्वमें अनुभव होते हैं उसी प्रकारके संस्कार चित्तमें स्थित होते हैं और वे संस्कार कर्म व वासनारूप होते हैं. जैसी वासना होती है वैसी स्मृति होती है. जाति, देश व कालसे व्यवधानको प्राप्त संस्कारोंसे स्मृति होती है. स्मृतिसे

फिर संस्कार होते हैं. ये स्मृति व संस्कार कर्माशय व चित्तवृत्तिके लाभवशसे प्रकट होते हैं. इससे जिन वासनाओंमें जाति देश व कालसे व्यवधान भी होता है उनमें भी उनके निमित्त वा नैमित्तिकभाव बने रहनेसे (कारण कार्य भाव सम्बंध रहनेसे) भेद नहीं होता. संस्कार कारणरूप व स्मृति कार्यरूप है, कारण व कार्यका अभेद्भाव मानकर अथवा दोनोंका समान विषयमें सम्बन्ध होनेसे स्मृति व संस्कारका एकरूप (समानरूप) होना कहा है. क्योंकि जिस कर्मजातिका जो विपाक है उसी सजातीय कर्मके विपाकहीके समान वा योग्य गुणवाली संस्कार व स्मृतिरूप वासनाओंके होनेका नियम है, विजातीय कर्मका विपाक विजातीय वासनाओंके होने वा उदय होनेका निमित्त (हेतु) नहीं होता ॥ ९ ॥

तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात् ॥ १० ॥

आशिषके नित्य होनेसे उनका अनादि होना भी सिद्ध होता है ॥ १० ॥

दो०—आशिषाको कहत मुनि, नित्य जान सतरूप ।
तिहि कारणते बासना, है अनादि अनुरूप ॥ १० ॥

वासनाओंका अन्तर न होना जो वर्णन किया है उससे अधिक वासनाओंके अनादिभी होनेके वर्णनमें यह कहा है कि, आशिष (होने वा बने रहनेकी प्रार्थना) के नित्य होनेसे उनका (वासनाओंका) अनादि होना भी सिद्ध होता है अर्थात् मैं सदा बना रहूं, मरूँ नहीं ऐसी आशिष अर्थात् प्रार्थना रूप अभिलाषा व त्रास नित्य होनेसे वासनाओंका अनादि होना विदित होता है, क्योंकि जो उत्पन्नमात्र बालक है उसमें कंप होना व उसके मुखकी आकृति विगडनी यह भयके चिह्न देखनेसे द्वेष व दुःखकी स्मृति व मरणत्रासके अनुमान होनेसे

व वर्तमान जन्ममें द्वेष दुःखके अनुभव होनेका कारण संभव होनेसें जन्मान्तर (दूसरे पूर्वजन्म) होने व वासनाओंके अनादि होनेका ज्ञान होता है. जो यह कहा जाय कि उत्पन्न बालकमें मुखकी आकृतिका विगडना काँपना मुसक्याना दुःख व सुखके निमित्तोंके स्मरणसे नहीं होते, कमल आदिके संकोच व विकासके समान स्वाभाविक हैं तो कमल आदिका संकोच (सिकुडना) विकास (फूलना) भी अग्नि आदिमें गरमी आदि होनेके समान निमित्तरहित स्वाभाविक नहीं हैं क्योंकि निमित्त विशेष होते हैं परन्तु जिन निमित्तोंसे कमल आदिके संकोच विकास आदि होते हैं उनसे व उनके समान बालकका कांपना रोना मुसक्याना आदि नहीं होते किन्तु जैसे हमलोगोंका भय सुख दुःख होनेमें सुख व शरीरके आकार होते हैं उसी प्रकारसे होनेसें बालकको पूर्व जन्ममें हुए सुख दुःखके स्मरण होनेका अनुमान होता है. अब यह संदेह है कि देह आत्मा नहीं है, आत्मा अनादि मरणत्रासरहित है, इससे आत्मामें स्वाभाविक मरणत्रास नहीं हो सकता, यह मरणत्रास किसको होता है ? उत्तर–मरणत्रास चित्तको होता है, चित्त निमित्तवशसे अनादि वासनाओंसे बंधा है, कोई वासनाओंका प्राप्त होकर पुरुषके भागके लिये प्रवृत्त होता है, छोटे व बडे देह परिणाममात्रमें चित्तका संकोच विकास होना घट व महलमें प्रदीपके प्रकाशके संकोच विकास होनेके समान है. धर्म आदि निमित्तकी अपेक्षासे इस विभुरूप चित्तका वृत्तिमात्रसे शरीरमात्रसे संकोच विकास होता है, निमित्त दो प्रकारका होता है, बाह्य व आध्यात्मिक. शरीर आदि साधनकी अपेक्षा जिसमें है वह बाह्य है. स्तुति, दान, वन्दन आदि चित्तमात्रके अधीन जो श्रद्धारूप है, वह आध्यात्मिक हैं. अब अनादि वासनाओंकी निवृत्ति किस तरह होती है उनका आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं ॥ १० ॥

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वा-
देषामभावे तदभावः ॥ ११ ॥

हेतु, फल, आश्रय व आलम्बनोंसे संगृहीत होनेसे इनके अभाव होनेमें उनका अभाव होता है ॥ ११ ॥

दो०—हेतु और फल आश्रय, आलंबनके नाश ।
नष्ट होत सब वासना, फरत न फेर प्रकाश ॥ ११ ॥

हेतु आदिके उदाहरण ये हैं. यथा—धर्मसे सुख, अधर्मसे दुःख' सुखसे राग और दुःखसे द्वेष होता है, इससे धर्म आदि सुख आदिके हेतु (कारण) हैं, राग द्वेषसे प्रयत्न होता है, उससे किसीपर अनुग्रह करता है, किसीपर क्रोध करके उसको नाश करता है, ऐसा करनेसे फिर धर्म अधर्म, सुख दुःख, राग व द्वेष होते हैं, इन सबका मूल हेतु अविद्या है, जिसमें आश्रित होकर जो उत्पन्न होता है वह उसका फल है. यथा धर्म आदिके सुख भोग अधिकार संयुक्त मन आश्रय है. क्योंकि मनमें ये सब आश्रित रहते हैं, जिसके सन्मुख होनेसे जो वासना प्रकट होती है वह उस वासनाका आलम्बन है, यथा कामिनी काम उत्पन्न होनेकी आलम्बन है इत्यादि. इससे रूप आदि विषय आलम्बन हैं इन हेतु फल, आश्रय (आलबंनोंके साथ) सब वासना संगृहीत हैं इससे इनके अभाव होनेसे इनमें आश्रित जो वासना है उनका भी अभाव होता है ॥ ११ ॥

अब यह संशय होता है कि, असत्का भाव व सत्का नाश नहीं होता फिर सत् वासनाओंका अभाव कैसे होगा इसका समाधान आगे वर्णन करते हैं:-

अतीतानागतस्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम् ॥१२॥[1]

---

१ अतीतानागतं स्वरूपत इति पाठान्तरम् ।

धर्मोंके अध्वभेद होनेसे अतीत अनागत स्वरूपसे है॥१२॥

दो०-भूत अनागत वस्तु सब, विद्यमान निजरूप ।
धर्म कालके भेदते, नहीं विरोध अनुरूप ॥ १२ ॥

असत्का संभव (उत्पन्न होना) व सत्का विनाश नहीं होना यह माननेके लियें इस अभिप्रायसे कि जो सत् धर्म हैं उन्हींका अध्वभेद मात्रसे उदय व नाश होना समझना चाहिये, सूत्रमें यह कहा है कि धर्मोंके अध्वभेद होनेसे अतीत व अनागत स्वरूपसे (अपने रूपसे) है अर्थात् जो ऐसा माना जाय कि अतीत अनागत सत् नहीं हैं तो ऐसा मानना यथार्थ नहीं है, क्योंकि जो अतीत अनागत न होते तो निर्विषय (शून्यरूप) अतीत व अनागतका ज्ञान उत्पन्न न होता और विना अतीत अनागत (भूत व भविष्यत्) भेदके वर्तमान होनेका भी ज्ञान न होता, इससे अतीत अनागत स्वरूपसे सत् है और भोग प्राप्त करनेवाले अथवा मोक्ष प्राप्त करनेवाले कर्मोंके फल प्राप्त होनेकी इच्छा की जाती है, जो असत् है तो धर्म आदिके उद्देशसे उत्तम अनुष्ठान योग्य नहीं मानना चाहिये. क्योंकि जो सत् है वही फलका निमित्त होता है व हो सकता है, अनेक धर्म स्वभाववाला जो धर्मी है उसके अंग भेदसे उसके धर्म होते हैं, जिस प्रकारसे वर्तमान व्यक्ति विशेषको प्राप्त द्रव्य है इस प्रकारसे अतीत अनागत नहीं हैं,अनागत अपने व्यङ्गस्वरूपसे प्राप्त होता है और अतीत अपने पूर्वमें हुए स्वरूपसे व्यतीत होता है ॥ १२ ॥

जो यह संशय हो कि जो अतीत अनागत वर्तमानके समान व्यक्ति विशेष संयुक्त नहीं हैं तो उनका स्वरूप क्या है ? इसका समाधान [illegible] सूत्रमें वर्णन करते हैं:—

---

१ जो होगया है वह अतीत है, जो होनेवाला है वह अनागत है और जो अपने व्यापारमें आरूढ है अर्थात् होरहा है वह वर्तमान है ।

ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ॥ १३ ॥

वे व्यक्त व सूक्ष्मरूप गुणात्मा(गुण स्वरूपवाले) हैं ॥१३॥

सो०—ते सूक्ष्म अरु व्यक्त, गुण आत्मा तिहि जानिये ।
वर्तमान है व्यक्त, भूत भविष्यति सूक्ष्म अति ॥ १३ ॥

तीन अध्वावाले जो धर्म हैं उनमेंसें वर्तमान व्यक्तरूप है और अतीत अनागत सूक्ष्मरूप हैं, परमार्थरूपसे तीनों गुणात्मा हैं अर्थात् गुणस्वरूप हैं, गुणोंका जो परम सूक्ष्मरूप है वह दृष्टिमें नहीं आता अर्थात् उसका प्रत्यक्ष नहीं होता और जो दृष्टिमें आता है वह सब मायारूप तुच्छ प्रतिक्षण परिणामको प्राप्त होनेवाला क्षणविध्वंसी है. अब यह संशय है कि जैसे मिट्टी दूध सूत भिन्न भिन्न पदार्थोंका एक परिणाम नहीं होता इसी प्रकारसे बहुत गुणोंका एक परिणाम न होना चाहिये. इसका उत्तर यह है कि बहुतोंका भी एक परिणाम होता है यथा बत्ती तेलका एक दीप परिणाम होता है; लवण क्षेत्रमें फेंके गये जो गज अश्व आदिके शरीर हैं उन सबके एक लवण परिणाम होता है इत्यादि एक परिणाम होनेको आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं ॥ १३ ॥

परिणामैकत्वाद्वस्तुत्वम् ॥ १४ ॥

परिणाम एक होनेसे एक वस्तु होना अंगीकार होता है॥१४॥

दो०—परिणामहुकी ऐक्यता, एकहि वस्तु कहात ।
भिन्न भिन्न अज्ञानसों, ज्ञान एक दर्शात ॥ १४ ॥

ज्ञानक्रिया व स्थितिस्वभाववाले ग्रहणरूप गुणोंका कारण भावसे एक परिणाम यथा श्रोत्र (कान) इन्द्रिय आदि ग्राह्य रूप शब्द आदि विषयोंका विषयभावसे एक परिणाम है. पार्थिव (पृथिवीसे कार्य)भावसे गौ वृक्ष पर्वत आदिका एक परिणाम है इसी प्रकारसे अन्यत्र जानना चाहिये—

अर्थात्इसी प्रकारसेएक विशेषभावसे एक परिणाम होनेका ग्रहण वा अंगीकार होता है. अब कोई यह कहते हैं कि जो कुछ विदित होता वह सब विज्ञानका भेद है अर्थ कुछ नहीं है क्योंकि विज्ञान (बोध) से भिन्न अर्थका होना सिद्ध नहीं होता, विना अर्थके विज्ञानका होना विदित होता है यथा स्वप्न आदिमें जो कल्पित वस्तुओंका होना भासित होता है वह ज्ञान परिकल्पना मात्र है. इसी प्रकारसे जगत्में जानना चाहिये. परमार्थसे वस्तु वा अर्थ कुछ नहीं है, इसके प्रतिषेधके लिये अर्थात् विज्ञानसे अर्थ पृथक् है यह प्रतिपादनके लिये अर्थात् विज्ञान व अर्थके भिन्न होनेका हेतु आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं ॥ १४ ॥

वस्तुसाम्येऽपि[1] चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः ॥ १५ ॥

वस्तुके सम होने (एकही होने)में भी चित्तके भेद होनेसे दोनोंका मार्ग भिन्न है अर्थात् दोनोंके स्वरूप भिन्न है ॥ १५ ॥

सो०—सम वस्तु जो होय, तोहू चितके भेदते ।
तिनके मारग दोय, भिन्न भिन्न अनुमानिये ॥ १५ ॥

वस्तुके एक होनेमें भी चित्तमात्रके भेद होनेसे चित्त व वस्तुके स्वरूप भिन्न हैं, दोनोंका एक होना सिद्ध नहीं होता, जैसे एकही स्त्रीमें पतिको सुख, सपत्नीको दुःख, कामीको मोह, ज्ञानी निष्कामको विराग होनेका ज्ञान होता है इत्यादि एक ही पदार्थमें चित्तोंके भेद होते हैं, इस प्रकारसे निमित्तभेदसे एकही अर्थमें भिन्न भिन्न ज्ञान होनेसे वस्तु वह ज्ञान ग्राह्य ग्रहण भेदरहित स्वरूपसे भिन्न हैं. इसपर [illegible]वादी यह कहते हैं कि अर्थका पृथक् (भिन्न) मानना यथार्थ नहीं है, भोग्य होनेसे सुख आदिके समान ज्ञानके

---

[1] वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्पृथक् पाठः ।

साथही अर्थ है, ज्ञानसे भिन्न अर्थ नहीं है, यदि ज्ञानसें भिन्न भी होय तो जड होनेसे ज्ञानसे पृथक्क् सिद्ध नहीं हो सकता, ज्ञानहीसे जाना जाता है, इससे जिस समयतक ज्ञान होता है उसी समयमें अर्थके होनेका प्रमाण है पश्चात् प्रमाणके अभावसे अर्थ कुछ नहीं है, इसके उत्तरमें अर्थके पृथक्क् होनेका अन्य (दूसरा) प्रमाण वर्णन करते हैं ॥ १५ ॥

न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं
तदा किं स्यात् ॥ १६ ॥

एक चित्ततंत्र (चित्त अधीन) भी वस्तु नहीं है, तब वह क्या प्रमाणरहित हो अर्थात् प्रमाणरहित न मानना चाहिये ॥ १६ ॥

दो०-एक चित्त आधीन जो, वस्तु नित्यता जान ।
तो अनिष्ट तिहि चित्तके, किमि अनित्य इव मान ॥

सो०-एक चित्त आधीन, वस्तु कोउ नहिं होत है ।
तो प्रमाणते हीन, कैसे ताको मानिये ॥ १६ ॥

जो एकचित्त तन्त्र अर्थात् एक चित्त आधीन ज्ञानरूपही वस्तु (अर्थ) होती तो जब घट ग्रहण करनेवाला चित्त कपडा आदि अन्यवस्तुमें मग्न होकर घटमें प्रवृत्त नहीं होता तब वह घट किसीको प्रत्यक्ष न होना चाहिये और जो किसी चित्तसे ग्रहण न किया जाता तो वस्तुका प्रमाणरहित असत् मानना यथार्थ होता, परन्तु ऐसा नहीं होता क्योंकि जिस वस्तुका एक चित्तमें बोध नहीं होता वह दूसरे चित्तसे जाना जाता है, इससे वस्तुको प्रमाणरहित न मानना चाहिये और जो यही माना जाय कि, जिससे चित्त प्रवृत्त होता है वही अर्थ-मात्र सत् व प्रमाणयुक्त है तो जिससे जिसका व्याप्यव्यापक सम्बन्ध है उसमें सम्बन्धवाले पदार्थका अवयवसे अवयवी

आदिका ज्ञान न होना चाहिये. यद्यपि जो जो पूर्व (पहिले) का भाग है वह मध्य व परभागसे व्याप्त है अथवा मध्य व परभागके साथ सम्बन्धको प्राप्त है, परन्तु उक्त हेतुसे जब चित्तसे पहिले भाग-का ज्ञान होवे तब मध्य व परभाग नहीं हैं ऐसा सिद्ध होता है और ऐसा मानना चाहिये, क्योंकि जो चित्तसे अज्ञात है अर्थात् ग्रहण नहीं किया गया वह प्रमाणरहित असत् है अर्थात् नेत्रद्वारा उदरमात्रके ज्ञान होनेके समयमें पृष्टि नहीं है, इसी प्रकारसे पृष्टि देखनेके समय वा ऊपरके परमाणुमात्र दृष्ट होनेमें व्याप्यव्यापक सम्बन्धके अभावसे उदर भी कुछ नहीं है ऐसा मानना होगा परन्तु ऐसा अंगीकार नहीं होता, क्योंकि यह अनुभव ज्ञानविरुद्ध व अयुक्त है, इससे चित्ततन्त्र अर्थ (वस्तु) नहीं है अर्थ स्वतन्त्र है और चित्त स्वतन्त्र है, दोनोंके सम्बन्धसे जो बोध होता है वह पुरुषका भोग है ॥ १६ ॥

तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम् ॥ १७ ॥

चित्तके उसके (वस्तुविषयके) उपरागका अपेक्षी (अपेक्षा रखनेवाला) होनेसे वस्तु* ज्ञात व अज्ञात होती है ॥ १७ ॥

दो०—वस्तुके उपरागते होत वस्तुको ज्ञान ।
चित्तअपेक्षा, जासुमें, तासु ज्ञान नहिं आन ॥ १७ ॥

वस्तुका ज्ञान होनेके लिये चित्तका वस्तुके साथ उपराग होनेकी अपेक्षा रहती है, जिस वस्तुके साथ चित्त उपरागयुक्त होता है उसको जानता है अन्यको नहीं. अयस्कान्तमणि अर्थात् चुम्बकके समान

---

* [illegible]म वस्तुशब्द नपुंसकलिङ्ग है और नपुंसकलिंगका व्यवहार पुंलिङ्गके समान होता है परन्तु वस्तुको सम्प्रति प्रचलित भाषामें स्त्रीके समान कहते हैं इससे स्त्रीलिङ्गकी क्रिया भाषामें रक्खी है ।

वस्तु वा विषय है, जैसे जड चुम्बक लोहेको अपनी तरफ खींचता है इसी प्रकारसे जो विषय वा वस्तु चित्तको आकर्षण करके अपने उपराग (प्रीति वा अभिलाषा) युक्त करती है अर्थात् जिस वस्तुके साथ चित्त उपरागयुक्त इन्द्रियद्वारा सम्बन्धको प्राप्त होता है वह ज्ञात होती है उससे पृथक् (भिन्न) अज्ञात रहती है. वस्तुके ज्ञात और अज्ञात होनेसे चित्तका परिणामी (बदलनेवाला) होना सिद्ध होता है ॥ १७ ॥

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात् ॥ १८ ॥

उसके (प्रभुपुरुषके) परिणामी न होनेसे चित्तकी वृत्तियां सदा ज्ञात होती हैं ॥ १८ ॥

दो०–परिणामी नहिं चित्त प्रभु, सदा जान चित्तवृत्ति ।
परिणामी प्रभु होत यदि, तो कस ज्ञानप्रवृत्ति ॥ १८ ॥

जो चित्तके समान प्रभु पुरुष है उसका परिणाम होता तो चित्तकी वृत्तिया जो उसके विषय हैं वे शब्द आदि विषयोंके समान ज्ञात व अज्ञात होतीं परन्तु चित्तकी वृत्तियों वा चित्तके सदा ज्ञात होनेसे उसके (चित्तके) प्रभु पुरुषके परिणामी न होनेका अनुमान होता है, क्योंकि जो प्रभु परिणामको प्राप्त होता तो चित्तके सदा ज्ञात होनेकी उपलब्धि न होती. पुरुष परिणामरहित है, इससे वह सदा मन वा चित्तको जानता है अर्थात् जो पुरुष परिणामको प्राप्त होता तो भूतकालमें भोगको प्राप्त हुए विषयको स्मरण न कर सकता क्योंकि जिस[illegible] भोग किया था वह न रहता तथा अपने चित्तकी वृत्तियोंको [illegible] न जान सकता. भूतकालके विषयोंके स्मरण व सदा वृत्तियोंके ज्ञात होनेसे पुरुषका परिणाम नहीं होता यह सिद्ध होता है ॥ १८ ॥

अब यह जाननेके लिये कि चित्त अग्निके समान अपनेही प्रकाशसे प्रकाशित होता है वा नहीं ? इसका सिद्धान्त आगे वर्णन करते हैं:-

न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् ॥ १९ ॥

दृश्य होनेसे वह अपने प्रकाशसे प्रकाशित नहीं होता है ॥ १९ ॥

दो०-स्वयं प्रकाश न जानिये, चित्त दृश्यको रूप।
दृश्य प्रकाशको देत है, पुरुषप्रकाश स्वरूप ॥ १९ ॥

जैसे अन्य इन्द्रिय व शब्द आदि दृश्य होनेसे आपसे प्रकाशित नहीं होते इसी प्रकारसे दृश्य होनेसे वह अर्थात् उक्त चित्त वा मन आपसे प्रकाशित नहीं होता, उसका प्रकाशक पुरुष है. अग्निके समान अपने प्रकाशसे प्रकाशित होनेका दृष्टांत चित्तमें युक्त नहीं है, ज्ञानरूप प्रकाश विना प्रकाश्य व प्रकाशक (ज्ञाता व ज्ञेय) के सम्बन्ध नहीं होता. यह प्रकाश क्रियारूप है, क्रिया विना कर्ता करण व कर्मके नहीं होती. यथा पकानेकी क्रिया विना पकानेवाले व अग्नि व तण्डुल (चावल) आदिके नहीं होती, इसी प्रकारसे जीवोंको अपने चित्त वा बुद्धिके व्यापार व प्रकाश्य (ज्ञेय) वस्तुके संयोगहीसे ऐसा बोध होता है कि मैं क्रोधको प्राप्त हूं, मैं डरता हूँ, मैं आनन्दको प्राप्त हूं, इसमें मेरी प्रीति है, इसमें मेरा द्वेष है इत्यादि ॥ १९ ॥

एकसमये चोभयानवधारणम् ॥ २० ॥

और एक समयमें दोनोंका अवधारण नहीं होता ॥ २० ॥

दो०—एक कालमें होत नहीं, युग पदार्थको ज्ञान।
तसेहि आत्मा चित्तको, होत न दोऊ भान ॥ २० ॥

एक समयमें अपने व परके रूपका अवधारण नहीं होता, इसमें भी भेद होना प्रतीत होता है अर्थात् अपने स्वरूप (आत्मज्ञान) व परस्वरूप (चित्त व विषयका ज्ञान) एक समयमें एक ही व्यापारसे नहीं होता, जब अविद्यासे चित्तमें प्राप्त क्रोध आदिको अपनेमें मानता है तब अपने स्वरूपको नहीं जानता और विवेकसे अपनेको जानता है, इससे प्रकाशक प्रकाश्य और व्यापार भेद होना विदित होता है ॥ २० ॥

चित्तान्तरदृश्यत्वे[1] बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसङ्करश्च ॥ २१ ॥

अन्य चित्तके दृश्य (ज्ञेय) होनेमें बुद्धिसे बुद्धिका अतिप्रसंग व स्मृतिसंकर (स्मृतियोंका मेल) होता है ॥२१॥

दो०—अन्य चित्तते अन्यको, माने जो कहुँ ग्राह्य ।
चित्त चित्तको संग अति, स्मृतियोग कहाय ॥ २१ ॥

जो चित्तसे भिन्न कोई पदार्थ न माना जाय चित्त ही द्रष्टा (ज्ञाता) व चित्त ही दृश्य (ज्ञेय) अंगीकार किया जाय अर्थात् एक चित्त द्रष्टा व अन्य चित्त दृश्य मानाजाय तो नीलाकार वा नीलरूप चित्त व जिस किसी चित्तका दृश्य है व नीलरूप होनेकी बुद्धि सब चित्त रूपही हैं, इससे बुद्धिरूप चित्तकाभी अन्य बुद्धिसे ग्रहण किया जाना मानना चाहिये. तथा वह अन्य बुद्धिसे और वह भी अन्य बुद्धिसे इस प्रकारसे सम धर्मवाली बुद्धियों वा समधर्म व सजातीय चित्तोंका दूसरेसे ग्रहण किया जाना अंगीकार करते जानेमें अनवस्था दोष होनेसे कोई एक विशेष ग्राहक अन्तवाला चित्त होनेका प्रमाण नहीं हो सकता. ग्राहकचित्त व ग्राह्य चित्तके यथार्थ निश्चय होनेसे घट देखा वा नहीं इस संशयसे देखनेका प्रमाण होना संभव नहीं है और

१ चित्तान्तरदृश्ये इति पाठान्तरम् ।

अर्थ व निश्चयके भिन्न होनेका निश्चय होनेसे ज्ञान चित्तोंका निश्चय न होना अर्थोंके निश्चय न होनेका कारण होनेसे अनन्त बुद्धियों (ज्ञानों) का अतिप्रसंग और अनन्त चित्तोंके अनुभवमें अनन्त स्मृतियोंका संकर (मेल) प्राप्त होगा. अनन्तके ग्रहण करनेमें कोई एक समर्थ न होनेसे ग्राहकका अभाव होगा, ग्राहकके अभावसे यह नील चित्त स्मृति है यह पीत चित्त स्मृति है यह विभाग नहीं हो सकता, इससे ग्राह्य व ग्राहकके असंभव होनेसे कोई चित्तसे पृथक् चेतन पुरुष चित्तका स्वामी भोक्ता होना विदित होता है ॥ २१ ॥

चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् ॥ २२ ॥

चिति शक्ति जो अप्रतिसंक्रमा (परिणामरहित) उसका उसके आकारमें प्राप्त होनेमें अर्थात् बुद्धिके आकार (रूप) में प्राप्त होनेमें अपनी बुद्धिका संवेदन (जानना) कहा जाता है ॥ २२ ॥

दो०–इन्द्रिनके संचारते, पुरुष रहित जब होइ ।
निज स्वरूप अनुरूपसों, लखत बुद्धिको सोइ ॥ २२ ॥

पुरुषकी जो चिति (ज्ञानरूप) भोक्ता होनेकी शक्ति अप्रतिसंक्रम है अर्थात् परिणामरहित है उसका जो बुद्धिके आकारको प्राप्त होना है अर्थात् क्रियासे अनेक परिणामको प्राप्त होनेवाली जो बुद्धि है उसके समान भासित होना है, यही पुरुषके अपनी बुद्धिका संवेदन कहा [illegible] है अर्थात् यही विशेषणरहित बुद्धि वृत्तिरूप पुरुषकी ज्ञानवृत्ति [illegible] जाती है. यद्यपि चिति शक्तिके बुद्धि आकार होनेमें कोई टीका-कार जलमें चन्द्रके प्रतिबिम्ब भासित होनेके समान उपमा देते हैं परन्तु यह युक्त नहीं है. क्योंकि, प्रतिबिम्ब मूर्तिमान् साकार पदार्थमें

होता है. चिति व बुद्धि निराकार पदार्थ हैं इससे सूत्रमें जो आकार-शब्द है वह समरूप वा समभाव होनेके अर्थमें समझना चाहियें. निराकार आकाशका जलमें भासित होनेके समान जो चिति व बुद्धिकी उपमा दीजावे तो ग्रहण योग्य होसकती है ॥ २२ ॥

द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ॥ २३ ॥

द्रष्टा व दृश्यसे उपरक्त (रागको प्राप्त) चित्त सर्वार्थ है अर्थात् सब अर्थरूप है ॥ २३ ॥

दो०–द्रष्ट दृश्य उपरक्त चित्त, सर्वारथ जिहि नाम ।
स्फटिकासम तिहि रूप हैं, जस रंग तस हुए ज्ञान ॥ २३ ॥

चेतन पुरुष द्रष्टा है, शब्द स्पर्श आदि विषय अचेतन दृश्य हैं, ये सब चेतन अचेतन चित्तके विषय होते हैं इनमेंसे जिसमें चित्त उपरक्त होता है वा जिसके साथ सम्बन्धसंयुक्त होता है उसीके आकारसे भासित होता है, इससे चित्त सर्व अर्थरूप है, जब चित्त द्रष्टा (पुरुष) से उपरक्त होता है तब द्रष्टाके आकारसे भासित होता है, इन्द्रिय आदिके द्वारा जब दृश्यसे उपरक्त होता है तब दुःख सुख भोगरूप दृश्यरूपसे भासित होता है, जैसे स्फटिक मणिमें जिस राग वा रूपका आभास पडता है उसी रूपसे भासित होती है, इसी प्रकारसे चित्तको समझना चाहिये. यद्यपि चित्त व स्फटिक मणिकी उपमामें साकार आकार होनेसे अयोग्य होनेकी शंका हो सकती है परंतु तत्त्वरूपसे न होने व अयथार्थ भासित होनेमात्रमें साधर्म्य [illegible] कर अंगिकार करना चाहिये, एक अंशमें जिससे उपमाका प्रयोजन [illegible] समधर्म होनेसे उपमाका यथार्थ होना मान लिया जाता है, अब चेतन व अचेतन स्वरूपको प्राप्त चित्तके स्वरूपमें बहुत भ्रमको प्राप्त है ।

कोई चित्तहीको चेतन मानते हैं, कोई चित्तही मात्रको सब मानते हैं यथा कोई वैनाशिक बाह्य अर्थको भी मानते हैं. कोई विज्ञानहीं मात्रको मानते हैं और अर्थ कुछ नहीं है. यह कहते हैं, परन्तु यह यथार्थ नहीं है, चित्त भोग्य है व भोक्ता पुरुष उससे पृथक् है, जैसा कि पूर्वही वर्णन होचुका है ॥ २३ ॥

तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् ॥ २४ ॥

वह असंख्येय वासनाओंसे विचित्र भी संहत्यकारित्वसे परके निमित्त है ॥ २४ ॥

दो०—इन्द्रियके संबंधते, पुरुष रहित पर अर्थ।
अमित वासना चित्र चित, लखि भ्रम तावत ॥
गृहस्वामी गृह वसत जिमि, भोगत चित्रित भोग।
सो पदार्थते भिन्न जिम, देह पुरुष संयोग ॥ २४ ॥

वह अर्थात् चित्त असंख्येय वासनाओंसे विचित्र भी है तथापि संहत्यकारित्व जो देह व इन्द्रियोंका मेल है उससे पर जो पुरुष हैं उसके भोग व अपवर्गके निमित्त है, अपने भोगके निमित्त नहीं है व पुरुष संहत्यकारित्वसे रहित है, नित्य शुद्ध ज्ञानमय है, जैसे गृहस्वामी गृहमें प्राप्त सम्पूर्ण चित्र विचित्र पदार्थोंको भोग करता है परन्तु सब पदार्थोंसे भिन्न होता है इसी प्रकारसे सुख दुःखरूप भोग व अपवर्गका भोग करनेवाला पुरुष सब इन्द्रिय व विषयोंसे पृथक् है ॥ २४ ॥

विशेषदर्शिन आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः ॥ २५ ॥

विशेषदर्शी (ज्ञानी) को आत्मभावकी भावना होना निवृत्ति है ॥ २५ ॥

सो०—दीर्घ ज्ञान जान, आत्मभावकी भावना।
तब प्रवृत्तिकी हान, पावत पुरुष निवृत्तिसुख ॥ २५ ॥

जैसे वर्षा होनेमें तृण अंकुरके जमनेसे तृण अंकुरके बीजके सत्ताका अनुमान होता है, इसी प्रकारसे जिसको मोक्षमार्गके सुननेसे आनन्द अश्रुपात व रोमहर्ष हो उसमें विशेष दर्शन अर्थात् जो विवेक ज्ञान मोक्ष प्राप्त करनेवाला व सब क्लेश कर्मसे निवृत्त करनेवाला है उसकी सत्ताका अर्थात् उसके विद्यमान होनेका अनुमान किया जाता हैं. विशेषदर्शी (ज्ञानी) को आत्मभावकी भावना होना क्लेश व कर्मकी निवृत्तिरूप है, उसके होनेसे सम्पूर्ण क्लेश व कर्म निवृत्त होजाते हैं. आत्मभावकी भावनासे इस निर्णयमें रुचि होती है कि मैं कौन था ? कैसा था ? यह क्या है ? किस प्रकारसे है ? मैं कौन होऊंगा और कैसे किस दशामें हूंगा ? यह विचार व भावना विशेषदर्शीको निवृत्त करती है, क्योंकि चित्तहीका विचित्र परिणाम होता है. पुरुष अविद्याके नाश होजानेमें चित्तके धर्मोंसे रहित शुद्ध स्वरूप होता है ॥ २५ ॥

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ॥ २६ ॥

तब कैवल्य (मोक्ष) के पूर्वही चित्त विवेकनिम्न (विवेकसे गम्भीर) होता है अर्थात् पूर्ण विवेकयुक्त होता ह ॥ २६ ॥

दो०--जैसे गरुआ होत चित, विषयभोगको पाय।
तैसेहि नासत कर्मके, निवृतिज्ञान गरुआय ॥ २६ ॥

जब ज्ञानी विषय वासनाओंरहित आत्मभावकी भावनासे कर्मसे निवृत्त होता है तब उसका चित्त जो विषयभोगमें आसक्त अज्ञान निम्न था वह मोक्ष होनेसे पहिले विवेकजज्ञान (विवेकसे उत्पन्न) निम्न होता है अर्थात पूर्ण विवेकज्ञानमें निश्चल स्थिर वा आश्रित होता है ॥ २६ ॥

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ॥ २७ ॥

उसके छिद्रोंमें अर्थात् विवेक भेद होनेके क्षणों वा समयोंमें संस्कारोंसे अन्य प्रत्यय होते हैं ॥ ॥ २७ ॥

दो०--जो विवेक निश्चल नहीं, रहत छिद्र तामांहि ।
संस्कारते पलट पुनि, मैं अरु मोर कहांहि ॥
भेदरहित चित थिर भये, छिद्र रहत नहिं कोइ ।
होत भेद विज्ञानकृत, छिद्र लहत अति सोइ ॥ २७ ॥

विवेक निम्न चित्तमें विवेकमें भेद होनेके समयोंमें पूर्व संस्कारोंसे (व्युत्थान संस्कारोंसे) मैं हूँ, यह मेरा है, मैं जानता हूँ, मैं नहीं जानता, अज्ञानी हूँ, इत्यादि ऐसे अन्य प्रत्यय उत्पन्न होते हैं ॥ २७ ॥

हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ॥ २८ ॥

इनका हान (नाश) क्लेशोंके समान कहागया है॥२८॥

सो०-संस्कारकी हान, क्लेशनाशसम कहत मुनि।
पक्क होत जब ज्ञान, नसत क्लेश व्युत्थान सब ॥ २८ ॥

जिस ज्ञानीका विवेक परिपक्क होगया है उसके व्युत्थान संस्कार क्षीण होजानेसे अन्य प्रत्ययोंके अर्थात् फिर क्लेश व व्युत्थान प्रत्ययोंके उत्पन्न करनेको समर्थ नहीं होते. इससे यह कहा है कि इनका अर्थात् जिनका बीज नष्ट होगया है ऐसे पूर्व व्युत्थान संस्कारोंका नाश क्लेशोंके समान कहा गया है अर्थात् जैसे विवेक छिद्रोंमें उत्पन्न हुए भी क्लेश अन्य संस्कारको उत्पन्न नहीं करते, इसी प्रकारसे व्युत्थान संस्कार भी अन्य संस्कारको उत्पन्न नहीं करते. जो सब तत्त्वों व पुरुषको यथार्थरूपसे जाननेका विवेक स्वरूपसे ज्ञान है उसको प्रसंख्यान कहते हैं. प्रसंख्यानको व्युत्थान संस्कारोंके निरोधका उपाय वर्णन करके अब प्रसंख्यानके भी निरोधका उपाय वर्णन करते हैं ॥ २८ ॥

प्रसङ्ख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्म- मेघः समाधिः ॥ २९ ॥

प्रसंख्यानमें अकुसीदको अर्थात् कुत्सित विषय प्रीतिसे रहितको सर्वथा विवेक ख्यातिसे धर्ममेघ समाधि होती है २९

सो०-प्रसंख्यानको पाय, इच्छा नहिं जिहिं सिद्धिकी ।
कुत्सित विषय विहाय, विवेकख्यातिते सर्वथा ॥
पावत,फल कैवल्य, कर्म अशुक्ल अकृष्णाकर ।
धर्ममेघसमतुल्य, लहै समाधिक अत्यसुख ॥ २९ ॥

प्रसंख्यान ज्ञानमेंभी जो अकुसीद है अर्थात् जो प्रसंख्यानमें प्राप्त सिद्धि आदिकोंकी इच्छा नहीं करता उनको भी अंतवान् जानकर कुत्सित विषय प्रीतिसे रहित है उसको सर्वथा विवेकख्यातिसे धर्ममेघ समाधि जिसमें केवल अशुक्ल अकृष्ण धर्म व जिसका कैवल्य फल है ऐसी समाधि प्राप्त होती है और संस्कार बीजके नाश होजानेसे फिर अन्य प्रत्ययकी उत्पत्ति नहीं होती ॥ २९ ॥

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ॥ ३० ॥

उससे क्लेश कर्मकी निवृत्ति होती है ॥ ३० ॥

दो०-धर्ममेघसमाधिते, होत क्लेशकी हान ।
जन्ममरणके दुःखते, सहज निवृत्ती जान ॥ ३० ॥

उससे धर्ममेघ समाधि लाभ होनेसे सम्पूर्ण क्लेश कर्मकी निवृत्ति हो जाती है अर्थात् क्लेशके मूल कर्माशयका नाश हो जाता है. क्लेश कर्मके निवृत्त होनेसे ज्ञानी जीवन्मुक्त होता है फिर उसका जन्म नहीं होता क्योंकि उत्पन्न होनेके कारण [illegible] व कर्माशयका नाश होजाता है, कारणके नाश होनेसे

---

१ कैवल्य फलरूपमशुक्लाकृष्णं मेहतीति धर्ममेघः ।

कार्यरूप जन्मका नाश होता है अर्थात् फिर जन्मकी प्राप्ति नहीं होती ॥ ३० ॥

तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् ॥ ३१ ॥

तब सम्पूर्ण क्लेश कर्मरूप आवरण मलसे रहित योगीका ज्ञान अनन्त होता है, ज्ञानके अनन्त होनेसे ज्ञेय (जाननेके योग्य) जो सम्पूर्ण पदार्थ हैं वे अल्प जान पडते हैं॥३१॥

दो०-तब सब मल आवरणकर, होत नाश अति शुद्ध ।
पावत ज्ञान अनंतके, ज्ञेय अल्पसम बुद्ध ॥ ३१ ॥

अर्थ स्पष्ट है ॥ ३१ ॥

ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम् ॥ ३२ ॥

उससे कृतार्थ गुणोंके परिणाम क्रमकी समाप्ति होतीहै३२

दो०-धर्ममेघसमाधिके, उदय भये पर तात ।
गुणकृतार्थता पाप कर, क्रमपरिणाम नसात ॥
गुणप्रवृत्तिसों होत हैं, भोग मोक्ष सुख दुःख ।
भोग अनंतर ज्ञानते, जीवनमुक्ति सुमुख्य ॥
सो०-मुक्तिअवस्था पाय, गुणकृतार्थ हुए रहत नहिं ।
गुण अस्थिर न रहाय, पुनि प्रवृत्ति नहिं कर सकहिं ॥ ३२ ॥

उससे धर्ममेघसमाधिके उदय होनेसे कृतार्थ गुणोंके परिणाम क्रमकी समाप्ति होती है अर्थात् जिस ज्ञानी प्रति गुण कृतार्थ होचुके हैं उस ज्ञानी प्रति फिर गुण प्रवृत्त नहीं होते अभिप्राय यह है कि, भोग व अपवर्गके निमित्त गुणोंकी प्रवृत्ति होती है. जिस ज्ञानीको [illegible]होनेसे अनन्तर विवेक वैराग्यसे जीवन्मुक्त होनेकी अवस्था प्राप्त हुई उस ज्ञानीमें कृतार्थ होजानेसे फिर क्षणभर भी गुण स्थिर नहीं होसकते अर्थात् अंत होनेकी अवस्थाको प्राप्त हो फिर उसमें प्रवृत्त नहीं होते ॥ ३२ ॥

क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ॥ ३३ ॥

क्षण प्रतियोगी अर्थात् जिसमें पूर्व पूर्व क्षणोंके अभाव होनेके पश्चात् अन्य अन्य उत्तरक्षणोंके होनेका सम्बन्धरहता है वह क्रम परिणामके अंतसे ग्रहणके योग्य है ॥ ३३ ॥

सो०—क्षण प्रति है संयोग, पूरवते उत्तर क्षणहु ।
अहै ग्रहणके योग, क्रम परिणामपर्यंतलों ॥ ३३ ॥

परिणामका क्रम परिणामके अंतसे ग्रहण योग्य है, यह कहनेका अभिप्राय यह है कि, अन्तमें जो परिणाम विशेषका प्रत्यक्ष होता है उससे पूर्व क्षणसे पर क्षण बदलते जानेके क्रमका बोध होता है. जैसे प्रयत्नसे रक्खे जानेपर भी नये वस्त्रका कालान्तरमें पुराना होजाना विदित होता है, यह पुराना परिणामका अंत है, इससे यह अनुमान किया जाता है कि, इस पुराना होनेके प्रत्यक्ष होनेसे पहिले भी क्षण क्षणमें सूक्ष्म सूक्ष्म पुराणता जो प्रत्यक्ष नहीं हुई होती गई है, बहुत वा स्थूल होनेमें अब विदित हुई है वा होती है, इसी प्रकारसे स्थूलसे सूक्ष्म होनेमें क्षण क्षण प्रति सूक्ष्मरूपसे कुछ कुछ सूक्ष्मता होनेका व अधिक होनेपर उसके प्रत्यक्ष होनेका व सूक्ष्मसे स्थूल होने आदिमें क्षण क्षणमें सूक्ष्मरूप कुछ कुछ स्थूलता होते जाने व अंतमें स्थूलता अधिक होनेपर उसके प्रत्यक्ष होनेका अनुमान किया जाता है, जैसे स्थूल शरीरका भोजनकी न्यूनता वा अन्य कारणसे जो कृश (दुबला) होना व लघु बालकको मास वा वर्षके पश्चात् देखनेमें जो उसके [illegible] रका बढना विदित होता है उसका प्रत्यक्ष होनेहीके समय[illegible] अनुभवसे सिद्ध नहीं होता, पूर्वहीसे जो क्षण क्षण प्रतिदिन आदिमें न्यूनता व अधिकता होती है वह स्थूल होनेपर विदित होती है. सूक्ष्मरूप होनेसे

क्षण क्षण व दिन दिन प्रति जो बालकके शरीरमें युवा अवस्था पर्यंत वृद्धि होती है वह क्षण क्षण व दिन दिन प्रति विदित नहीं होती. यह सूक्ष्म रूपसे क्षण क्षण परिणाम होते जाना क्रम है अर्थात् परिणामका क्रम है. यह परिणाम नित्य है. जो यह संशय हो कि, क्षण क्षणमें रूपान्तर होनेसे नित्य कैसे हो सकता है ? इसका उत्तर यह है कि, नित्यता दो प्रकारकी है, एक कूटस्थ नित्यता जो एक रस परिणामरहित होनेकी नित्यता है. दूसरी परिणाम नित्यता पुरुषको कूटस्थ नित्यता है, बुद्धि आदि गुण धर्मोंको परिणाम नित्यता है, परिणामको प्राप्त होजानेपर भी जिसका तत्त्वका नाश नहीं होता वह नित्य कहा जाता है; पुरुष व गुण दोनोंके तत्त्वके नाश न होनेसे दोनों नित्य हैं. अब यह प्रश्न उदय होता है कि, स्थिति व गतिके साथ गुणोंमें वर्तमान जो यह संसार है इसके क्रमकी समाप्ति है अथवा नहीं ? यह प्रश्न अवचनीय है, प्रश्नके तीन प्रकारके भेदोंमेंसे एक यह अवचनीय है. वे तीन ये हैं—एक एकान्त वचनीय जिसका उत्तर एकही प्रकारका होता है. दूसरा विभज्यवचनीय जिसका उत्तर विभागसे कहने योग्य होता है. तीसरा अवचनीय जिसको उत्तर एकान्त रूपसे एक प्रकारसे कहने योग्य नहीं होता । जैसे क्या सब जगत् जो उत्पन्न है मरेगा ? उत्तर—सब मरेगा, यह एकान्तवचनीय है. क्या जो जो मरेगा सब उत्पन्न होगा ? उत्तर—केवल जिसको ज्ञान उदय हुआ है, व तृष्णा-रहित होगया है वह उत्पन्न न होगा, अन्य उत्पन्न होगा. तथा मनुष्य [illegible] उत्तम है वा नहीं ? उत्तर—मनुष्य जाति पशुओंसे उत्तम है. [illegible] ऋषियोंसे उत्तम नहीं है, यह विभज्यवचनीय है. यह संसार अन्तवान् है ? वा अनन्त है ? यह अवचनीय है, क्योंकि, दोमेंसे एक विशेष कहने योग्य नहीं है परन्तु आगम प्रमाण (शब्द प्रमाण) से

इसका उत्तर यह है कि, ज्ञानीको संसारक्रमकी समाप्ति है अर्थात् ज्ञानीको संसार अन्तको प्राप्त होता है, अज्ञानीको नहीं होता, ज्ञानी संसार क्रमके समाप्त होनेपर अर्थात संसारके अंत होनेपर मुक्त हो कैवल्य पदको प्राप्त होता है ॥ ३३ ॥

अब कैवल्यका क्या लक्षण है आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं:—

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ॥ ३४ ॥

इति श्रीपातञ्जले योगशास्त्रे कैवल्यनिरूपणं नाम तुरीयः पादः ॥ ४ ॥

पादचतुष्टयसूत्राणां समष्टिसंख्या–१९५ ॥

पुरुषार्थसे शून्य गुणोंका लय होना अथवा चितिशक्तिमात्र कैवल्य स्वरूपकी प्रतिष्ठा (अवस्था) है ॥ ३४ ॥

दो०–पुरुषार्थकी शून्यता, त्रिगुणादिक लय जान ।
शेष रहत है शक्ति चित, तब कैवल्य बखान ॥ ३४ ॥

पुरुषार्थ जो मोक्ष है उससे शून्य भोग अपवर्गके अर्थ कार्य करणात्मक जो प्रकृतिरूप त्रिगुण व महत्तत्त्व आदि कार्य गुण हैं उनका क्रमसे सबका लय होजाना अथवा बुद्धि सम्बन्ध रहित केवल आत्माकी शक्तिमात्र अपने शुद्ध ज्ञान आनन्दस्वरूप अवस्थामें ईश्वरमें समाधि सिद्ध होनेसे जीवका प्राप्त होना कैवल्य (मोक्ष) है. जो यह संशय हो कि ईश्वरमें समाधि सिद्ध होनेसे इस अर्थका ग्रहण सूत्र शब्दसे पृथक् (भिन्न) कहांसे होता है ? तो पूर्वही पुरुषार्थ सिद्ध होनेके लिये अष्टांग योगके वर्णनमें ईश्वर उपासना ईश्वर प्राणिधानको वर्णन किया है, उस संबन्धसे ग्रहण करना युक्त है, ईश्वर अनुग्रहसे शुद्धरूप होकर ईश्वरमें प्राप्त हो जीव नित्य आनन्दको प्राप्त होता है, इसी प्रयोजनसे ईश्वर उपासना व ईश्वर प्राणिधानका विधान है ॥

इति श्रीपातञ्जले योगशास्त्रे श्रीमद्धार्मिकप्यारेलालात्मजतेरहीत्याख्यग्राम-वासिश्रीमच्छास्त्रवित्प्रभुदयालुनिर्मितार्यभाषाभाष्ये कैवल्यपादश्चतुर्थः समाप्तः ॥ ४ ॥

॥ श्रीः ॥

पादार्थसङ्ग्रहः ।

योगस्योद्देशनिर्देशस्तदर्थं वृत्तिलक्षणम् ।
योगोपायाः प्रभेदाश्च (१) पादेऽस्मिन्नुपवर्णिताः ॥ १ ॥
क्रियायोगं जगौ क्लेशान् विपाकान् कर्मणामिह ।
तद्दुःखत्वं तथा व्यूहान् (२) पादे योगस्य पञ्चकम् ॥ २ ॥
(३) अत्रान्तरङ्गाण्यङ्गानि परिणामाः प्रपञ्चिताः ।
संयमाद्भूतिसंयोगस्तासु ज्ञानं विवेकजम् ॥ ३ ॥
मुक्त्यर्हं चित्तं परलोकमेयज्ञसिद्धयो धर्मघनः समाधिः ।
द्वयीव मुक्तिः प्रतिपादितास्मिन् (४) पादे प्रसङ्गादपि चान्यदुक्तम् ॥४॥

इति पादार्थसंग्रहः ॥

योगशास्त्रार्थसङ्ग्रहः ।

निदानं तापानामुदितमथ तापाश्च कथिताः
सहाङ्गैरष्टाभिर्विहितमिह योगद्वयमपि ।
कृतो मुक्तरध्वो गुणपुरुषभेदः स्फुटतरो
विविक्तं कैवल्यं परिगलिततापा चितिरसौ ॥

समाप्तं योगदर्शनम् ।

"श्रीवेङ्कटेश्वर" छापखानेकी परमोपयोगी, स्वच्छ, शुद्ध और सस्ती पुस्तकें ।

यह विषय आज ५०।६० वर्षसे भारतवर्षमें प्रसिद्ध है कि, इस यन्त्रालयकी छपी हुई पुस्तकें सर्वोत्तम और सुन्दर प्रतीत तथा प्रमाणित हुई हैं । इस यन्त्रालयमें प्रत्येक विषयकी पुस्तकें जैसे—वैदिक, वेदान्त, पुराण, धर्मशास्त्र, न्याय, मीमांसा, छन्द, ज्योतिष, साम्प्रदायिक, काव्य, अलंकार, चम्पू, नाटक, कोष, वैद्यक तथा स्तोत्रादि संस्कृत और हिन्दी भाषाकी प्रत्येक अवसरपर विक्रीके लिये तैयार रहती हैं । शुद्धता, स्वच्छता तथा कागजकी उत्तमता और जिल्दकी बँधाई देशभरमें विख्यात है । इतनी उत्तमता होनेपर भी दाम बहुत ही सस्ते रखे गये हैं और कमीशन भी पृथक् काट दिया जाता है, अतः संस्कृत तथा हिन्दीके रसिकोंको अवश्य अपनी अपनी आवश्यकतानुसार पुस्तकोंके मँगानेमें त्रुटि न करनी चाहिये. ऐसा उत्तम, सस्ता और शुद्ध माल दूसरी जगह मिलना असम्भव है ‌-)॥ का टिकट भेजकर बड़ा 'सूचीपत्र' मँगा देखें ।

पुस्तक मिलनेका पता—

खेमराज श्रीकृष्णदास,
"श्रीवेङ्कटेश्वर" स्टीम्-प्रेस,
बम्बई.

गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास,
"लक्ष्मीवेङ्कटेश्वर" स्टीम्-प्रेस
कल्याण-बम्बई.